की चर्चा भी की; लेकिन अभी तक कोई अग्रसर नहीं हुआ यदि आपकी इच्छा है तो ले जाकर प्रकाशित कीजिए।" इस प्रकार जब मैंने आज्ञा दे दी, तो मिश्र जी ने इसे बड़ी श्रद्धा से ले जाकर छपायी और उन्हों ने अधिकारी जनों को देकर सर्व-साधारण का बड़ा उपकार किया। उसके बाद आध्यात्मिक विषयों के प्रचार में आपकी और भी रुचि बढ़ी तथा मेरी लिखी हुई "आत्म-प्रकाश" "प्रेम, वैराग्यादि वाटिका' इत्यादि पुस्तकें छपा कर फिर भी अधिकारी जनों को द्रव्य के बिना ही समर्पण कर वैराग्य, भक्ति, ज्ञानादि का प्रचार किया, तथा काशी-निवासी पूज्यपाद परमहंस दण्डी स्वामियों को भी एक-एक प्रति सादर समर्पित किया। आप दीन-दुखियों पर बड़ी करुणा के साथ यथा शक्ति सहायता करते रहते हैं, धर्म, ईश्वर, तथा ईश्वर के भक्तों में आप का पूर्ण विश्वास रहता है। आपके मुखारविन्द से ये वाक्य सर्वदा निकलते रहते हैं:—"मनुष्य हर एक युग तथा हर काल में सत्य का पालन कर सकता है।" "धर्म ऐसा नहीं है, जो धारण करने वाले को धोखा दे।" 'ईश्वर ने मनुष्य के लिए जो वर्णाश्रम रूपी सीढ़ियां बना रखीं हैं, उनके द्वारा चलने से ही कल्याण हो सकता है"। "त्रिविधि तापों से तपायमान प्राणियों के लिये सन्तों के चरणों का शरण ही एक मात्र शीतल छाया है" इत्यादि। पाठकगण, इन उदाहरणों से ही मिश्र जी के हृदय के विशुद्ध तथा अटल भावों को समझ जायंगे, अतः मैं विशेष लिखना नहीं चाहता।

मिश्र जी की आध्यात्मिक विषयों में स्वाभाविक श्रद्धा तो थी ही, परन्तु मेरे ग्रन्थों के अवलोकन से अब इनके हृदय में आध्यात्मिक-रसामृत का अधिक संचार होने लगा है, जिससे और भी उत्कृष्ट श्रद्धा हो गई है, और मिश्र जी ने मुझसे फिर भी ग्रन्थ लिखने का अनुरोध किया है। यद्यपि 'राम' ने अब विश्वनाथपुरी श्री काशी के अन्तर्गत ईशानेश्वर महादेव के मठ पर 'परमहंस परिव्राजकाचार्य श्री १०८ स्वामी गंगाधर आश्रम जी' से सन्यास ग्रहण कर लिया है, और इसका चित्त भी पुस्तक लिखने से उपराम होगया है, तथापि यह मिश्र जी के आग्रह से उसी पूर्व लिखित "ज्ञानामृत" का विस्तार करके श्री मिश्र जी को समर्पित करता है।

प्रथम संस्करण वाली पुस्तक प्रक्रया के साथ नहीं थी, अतएव अबकी बार इस पुस्तक को प्रक्रया के सहित करने के लिए दोहों के क्रम उलट-पलट कर दिये गये हैं तथा अप्रासंगिक दोहे निकाल कर कुछ नवीन मिला दिये गये हैं। इस ग्रन्थ की 'प्रथम अञ्जलि" में अन्तःकरण की शुद्धि के लिए वहिरंग साधन कर्म उपासना वतलाए गये हैं। "द्वितीय अञ्जलि" में अन्तःकरण के शुद्ध हो जाने पर अंतरंग साधन विवेकादि का वर्णन है, तथा विवेकादि चार साधनों के हो जाने पर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य के शरणागत की रीति बतला कर गुरु के उपदेश का नियम वतलाया गया है; फिर संशय-विपर्यय की निवृत्ति के लिए श्रवण, मनन और निदिध्यासन की रीति

का वर्णन सविस्तार किया गया गया है। निदिध्यासन के कर लेने पर जीव तथा ईश्वर के अभेद का अपरोक्ष ज्ञान होकर ज्ञानी को जो अनुभव होता है, उसका वर्णन किया गया है। 'तृतीयाऽञ्जलि' मध्यम अधिकारी के लिए सृष्टि के अध्यारोप और अपवाद के द्वारा अद्वैत तत्व का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकरण के अन्त में भी ज्ञानी का अनुभव दिखलाया गया है।

प्रिय सज्जनों! मैंने यहां पुस्तक के मुख्य-मुख्य विषयों का दिग्दर्शन करा दिया है। जिनको विशेष देखना हो, वे अनुक्रमणिका में देख लें, और यदि इस पुस्तक में दोष भी रह गया हो तो अपनी उदारता से उस पर ध्यान न दें, क्योंकि एक ईश्वर को छोड़ कर मनुष्य के व्यवहार में कुछ न कुछ दोष रह ही जाता है। इसके अतिरिक्त मैं कोई साहित्य का पंडित भी नहीं हूँ और मैंने इस ग्रन्थ को ज्ञानी एवं पंडितों के लिए लिखा भी नहीं है, किन्तु जो संस्कृत के ग्रन्थों को स्पष्ट समझने में असमर्थ हैं, उन्हीं सर्व साधारण जिज्ञासुओं के लिए लिखा है। यद्यपि भाषा के भी वेदान्त ग्रन्थ अनेक हैं, तथापि किसी में तो प्रक्रियाएं नहीं हैं और जिनमें हैं भी, तो वे कठिन तथा बृहद् होने के कारण अल्प बुद्धि वालों के लिए दुर्बोध सा हो गए हैं। अतएव यह पुस्तक अल्प भी हिन्दी भाषा के जानने वाले जिज्ञासुओं के लिए परमोपयोगी होगी। अलमिति शुभम्।

कार्तिक शुक्ल १५ पूर्णिमा
सम्वत् १९९३ विक्रमी
सन १९३६ ई०

भवतां......
'राम'
गंगातट

परिव्राजकाचार्य पूज्य पाद श्री १०८ श्री स्वामी
रामाश्रम जी परमहंस।

※ ॐ ※

अथ

ज्ञानामृत

(भाषा वेदान्त)

श्री १०८ परमहंस परिव्राजकाचार्य
स्वामी रामाश्रमेण निर्मिताः ।

तावद्गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुकाः विपिने यथा ।
न गर्जति महाशक्तिर्यावद्वेदान्त केसरी ॥ १ ॥

जिसको
जिला बलिया, पोष्ट मभौवा, ग्राम बुलापुर निवासी
पं० गयाप्रसाद जी मिश्र ने प्रकाशित किया ।

द्वितीय संस्करण
१००० प्रति

मूल्य-ज्ञान

सम्वत् १९९६ बिक्रमी
सन् १९४० ई०

निवेदन—

प्रिय मुमुक्षु जन! अपने सौभाग्य एवं पूज्यपाद परिव्राजकाचार्य स्वामी श्री रामाश्रम जी परमहंस के असीम अनुकम्पा से यह 'ज्ञानामृत' नामक पुस्तक आपके कर कमलों में समर्पित करते हुए अतुलित आनन्द का अनुभव कर रहा हूं।

वाचक वर्य! यों तो संस्कृत में अनेक धार्मिक ग्रन्थ महर्षियों द्वारा रचित पड़े हैं परन्तु उनकी भाषा कठिन होने से सर्व साधारण मुमुक्षु उससे लाभ प्राप्त करने में असमर्थ रहते हैं। इसी कठिनाई को दूर करने के लिए पूज्य स्वामीजी ने सभी ग्रन्थों का सारांश लेकर सरल भाषा में इस ग्रन्थ की रचना कर के मुक्ति-सोपान का साक्षात्कार कर दिया है। इस ग्रन्थ के सभी बातों का उल्लेख मैं इस छोटे से निवेदन द्वारा नहीं कर सकता। आप पढ़ कर स्वयं उसका अनुभव कर सकते हैं।

पाठक वृन्द! यदि इस पुस्तक को आप लोग अपना कर थोड़ा भी लाभ प्राप्त किये तो मैं कृतकृत्य हो जाऊंगा।

आपका:—
गयाप्रसाद मिश्र
प्रकाशक।

उदार चेता महानुभाव पं० गयाप्रसाद जी मिश्र,
मु० तुलापुर, पो० मझौवा,
ज़िला बलिया।

विषय-अनुक्रमणिका

प्रथमाऽञ्जलि

बहिरंग साधन

द्वितीयाऽञ्जलि

अन्तरङ्ग साधन

तृतीयाऽञ्जलि

अध्यारोप और अपवाद

प्रथमाऽञ्जलिः

मङ्गलाचरण ।

दोहा—ध्यान धरूं ओंकार का, व्यापक ब्रह्म प्रतीक ।
लगे मुमुक्षुन के हिये ज्ञानामृत यह नीक ॥१॥

अर्थ—व्यापक ब्रह्म का प्रतीक (मूर्ति) जो ॐकार है, उसका ध्यान धरता हूँ, ताकि यह "ज्ञानामृत" नामक पुस्तक मुमुक्षु (मोक्ष के चाहने वाले) मनुष्यों को अच्छी लगे ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार शालिग्राम तथा नर्मदेश्वर की प्रतिमा को श्रद्धा तथा विश्वास पूर्वक पूजन करके विष्णु तथा

शिव का परोक्षज्ञान होता है, इसलिये शालिग्राम तथा नर्मदेश्वर की प्रतिमा को प्रतीक कहते हैं। उसी प्रकार प्रणव की उपासना द्वारा जिज्ञासु पुरुष व्यापक ब्रह्म का साक्षात्कार (अपरोक्षज्ञान) करता है, इसलिये प्रणव ब्रह्म का प्रतीक है। श्रुति भी कहती है:—

प्रणवो धनुः शरोह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्य मुच्यते।
अप्रमत्तेन वेधव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥

प्रणव (ॐ कार) को धनुष, जीवात्मा को शर और उस ब्रह्म को लक्ष्य कहा गया है। सावधान होकर वेधन करने योग्य है अर्थात् प्रणव रूपी धनुष पर जीवात्मा रूपी वाण को चढ़ाकर सावधानी पूर्वक अर्थात् अन्तःकरण तथा इन्द्रियों को वश में करके वेधे (मारे) ताकि यह जीवात्मा वाण की तरह ब्रह्म में मिलकर तन्मय हो जाय।

भाव यह है कि जैसे वाण धनुष से छूट कर ही लक्ष्य स्थान में पहुंचता है, जव तक धनुष पर चढ़ा रहता है, तव तक वह लक्ष्य में प्रवेश नहीं करता है। उसी प्रकार इस जीवात्मा का जव तक प्रणव-स्वरूपी जाग्रत (स्थूल) स्वप्न (सूक्ष्म) तथा सुषुप्ति (कारण) इन तीन अवस्थाओं से सम्वन्ध रहता है, अर्थात् मनुष्य अपने को इनसे भिन्न नहीं जानता है, तव तक लक्ष्य जो अपना शुद्ध स्वरूप है, (जिसको साक्षी, द्रष्टा तथा कूटस्थ भी कहते हैं और जिसका शुद्ध ब्रह्म से अभेद है) उससे

भिन्न रहता है, और जब इन अवस्थाओं से अहंता (मैं) तथा ममता (मेरी) रूपी सम्बन्ध छोड़ देता है, अर्थात् ऐसा समझ जाता है कि ये अवस्थाएं न मेरी हैं और न इनका मैं हूँ किन्तु इन अवस्थाओं का जानने वाला मैं घट द्रष्टा की तरह इनसे भिन्न हूँ, तब ब्रह्मात्मा रूपी लक्ष्य में प्रवेश कर वह ब्रह्म स्वरूप हो जाता है। अकार, उकार और मकार रूप प्रणव है तथा जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति, ये तीन अवस्थाएं प्रणव स्वरूप हैं।

जिस प्रकार शालिग्राम तथा नर्मदेश्वर की मूर्ति को विष्णु तथा शिव का प्रतीक होने से विष्णु तथा शिव कहते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म का प्रतीक होने से प्रणव को भी श्रुति स्मृतियों में ब्रह्म कहा गया है। यथा:—

'ओमित्येदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानम् ।
भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोंकार एव ॥
यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योंकार एव ।
'ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म' । 'प्रणवः सर्व वेदेषु' ॥

अर्थात् ॐ जो यह एक अक्षर है, सोही यह सब जगत है, उस ॐ कार की व्याख्या करता हूँ। भूत, भविष्य और वर्तमान, जो ये तीन काल हैं, सो सब ॐ कार ही हैं, और जो इस तीन काल से परे अर्थात् जिसमें ये तीन काल कल्पित हैं,

वह ब्रह्म भी ॐकार ही है । ॐ जो यह एक अक्षर है, सो ब्रह्म है, हे अर्जुन ! सब वेदों में मैं ॐकार हूँ ।

शालिग्राम, इत्यादि प्रतीकों में तथा प्रणव रूपी प्रतीक में केवल इतना ही अन्तर है कि शालिग्राम, इत्यादि प्रतीकों में श्रुति-शास्त्र अथवा आप्त पुरुषों के वाक्यों पर विश्वास करके विष्णु, आदि देवताओं की भावना की जाती है और उस भावना के द्वारा विष्णु, आदि का परोक्ष ज्ञान होता है, अतः शालिग्राम, आदि भावना गम्य हैं, और प्रणव में भावना की आवश्यकता नहीं है, वल्कि चिन्तन की आवश्यकता है और इसके चिन्तन का फल परोक्ष नहीं होता है, किन्तु अपरोक्ष होता है, क्योंकि प्रणव महावाक्य है। महावाक्य का ऐसा स्वभाव ही है कि उसके अर्थ के चिंतन मात्र से वह वस्तु का अपरोक्ष (साक्षात्) ज्ञान कराता है ।

प्रश्नः—प्रणव (ॐ कार) महावाक्य किस प्रकार है ?

उत्तरः—वर्णों के समुदाय (समूह) को शब्द और शब्दों के समुदाय को वाक्य कहते हैं, इस नियम से प्रणव में अकार, उकार, मकार और अर्ध मात्रा अर्थात् अमात्रा ये चार मात्राएं (पाद, अंश या चरण) हैं और **"अकार उच्चयते विष्णु उकारश्च पितामहः । मकार उच्चयते रुद्रो तत्परं ज्योतिरोमिति"** अर्थात् अकार विष्णु, उकार ब्रह्म तथा मकार रुद्र कहलाता है और उससे परे जो अमात्र है, वह

ज्योति (साक्षी) कहलाता है । इस प्रमाण से ओंकार में विष्णु, ब्रह्मा, इत्यादि शब्द हैं, अतः शब्दों का समूह होने से ओंकार वाक्य है । प्रथम के उपाधि रूप तीन चरणों को छोड़कर चौथे चरण (साक्षी) में लक्षणा (चिंतन) करने से अपने स्वरूप का अपरोक्ष ज्ञान रूप फल होता है, क्योंकि वह चौथा चरण साक्षी होने से अपना शुद्ध स्वरूप ही है । अपना स्वरूप किसी को परोक्ष नहीं है और उस साक्षी का ब्रह्म से अभेद होने से अपने से भी ब्रह्म का अभेद ही सिद्ध होता है । पूर्वोक्त प्रकार से अपरोक्ष फल का हेतु होने से प्रणव महावाक्य है। प्रणव का सविस्तार अर्थ मैंने 'आत्म प्रकाश' के 'सर्वोत्कृष्ट प्रणव उपासना' नामक परिच्छेद में किया है ।

पूर्वोक्त ॐकार का मैं ध्यान धरता हूँ । जिस प्रकार वह प्रणव स्वरूप परमात्मा अपने आनन्दस्वरूप से इस जगत को आनन्दमय कर रखा है; उसी प्रकार इस "ज्ञानामृत" नामक पुस्तक को भी मुमुक्षु जनों के लिये आनन्दमय करे

दोहा--गुरुपद कमल पराग धरि,
शीश विमल मति पाय ।
ज्ञानामृत वर्णन करूं,
जाते आत्म लखाय ॥ २ ॥

दोहार्थ—श्रीगुरू महाराज के चरण कमलों की धूरी शीश पर चढ़ा कर और निर्मल बुद्धि को प्राप्त करके 'ज्ञानामृत' नामक पुस्तक का वर्णन करता हूँ, जिससे आत्मा को पहचान हो ॥ २ ॥

भाव यह है कि जिस प्रकार श्रीगुरू महाराज शिष्य पर अनुग्रह करके अपने उपदेशों के द्वारा उसके हृदय के अज्ञान-रूपी अन्धकार को नष्ट करते हैं, उसी प्रकार यह 'ज्ञानामृत' भी विचार करने से जिज्ञासुओं के अन्तःकरण में जो अपने आत्मस्वरूप का अज्ञान रूपी आवरण है, उसे नष्ट करे। गुरूके विषय में कहा है—

गु शब्दस्त्वन्धकारस्य रु शब्दस्तन्निरोधकः ।
अन्धकार तन्निरोधत्वात गुरुरित्यभिधीयते ॥

गु शब्द का अर्थ अज्ञान रुपी अन्धकार होता है और रु शब्द का अर्थ उस अन्धकार का नाशक (ज्ञान) होता है; इसी रीति से शिष्य के अज्ञान का जो नाश करे, उसे गुरू कहते हैं।

अब "ज्ञानामृत" जो पुस्तक का नाम है, उसका अर्थ कहते हैं।

इस ज्ञानामृत नाम में दो शब्द हैं:—ज्ञान तथा अमृत। ज्ञान कहते हैं चित्त को अर्थात् चैतन्य को और अमृत कहते हैं सत्य को जिसका नाश तीन काल में न हो। वह तो सत्य

और जो जड़ पदार्थों का जानने वाला हो, वह चैतन्य है; इससे यह सिद्ध हुआ कि सत् चित् को ज्ञानामृत कहते हैं। इस सत् चित् को आनन्द का भी उपलक्षक समझना चाहिए; क्योंकि जो सत् तथा चित् स्वरूप होगा, वह आनन्द स्वरूप अवश्य होगा। शंकाः—'सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म,' 'आनन्दो ब्रह्म', अर्थात् 'सत्य ज्ञान तथा अनन्त ब्रह्म है, आनन्द स्वरूप ब्रह्म है', इत्यादि श्रुतियों से तो "सच्चिदानन्द" ब्रह्मको कहते हैं। यहां पुस्तक का नाम क्यों रखा गया? ऐसी शंका के होने पर कहते हैं:—

दोहा—हेतु ठौर में कार्य को, वर्णहिं पुरुष सुजान।
पुण्य पाप कर्मन कहत, अमानादि को ज्ञान॥ ३॥

दोहार्थ—बुद्धिमान् पुरुष कारण के स्थान पर कार्य का भी प्रयोग करते हैं, जैसेः-शुभाशुभ कर्मों के करने से धर्माधर्म (पुण्य-पाप) की उत्पत्ति होती है; इसलिए शुभाशुभ कर्मों को धर्माधर्म कहते हैं अर्थात् जैसे कोई शुभ कर्म करता है; तो कहा जाता है कि 'यह धर्म कर रहा है,। और अशुभ कर्म के करने से कहा जाता है कि 'यह अधर्म कर रहा है,। इसी प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता के त्रयोदश अध्याय में 'अमानित्वमदम्भित्वम्' यहां से लेकर 'एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तम्' यहां तक बीस साधन ज्ञान के उत्पादक हैं; इसलिये इन्हें भगवान् ने ज्ञान कहा है॥ ३॥

पूर्वोक्त प्रकार से यह 'ज्ञानामृत' नाम की पुस्तक सच्चिदानन्द ब्रह्म को उत्पन्न करने वाली है अर्थात् अधिकारी जनों को विचार द्वारा ब्रह्म को प्राप्त करा देने वाली है; इसलिये इसका ज्ञानामृत नाम सार्थक है।

अब यह दिखलाते हैं कि ब्रह्म को प्राप्त कर लेने का अधिकारी मनुष्य ही है अन्य प्राणी नहीं। इसलिये मनुष्य शरीर पाकर जिसने ब्रह्म को प्राप्त नहीं किया; किन्तु विषयों में लगा रहा, तो उसकी बड़ी हानि हुई।

मनुष्य-शरीर की दुर्लभता:—

दोहा-मानुष तन है भजन को, नहीं विषय का हेतु।
फिर चौरासी जायगा, अबहीं से नर चेतु ॥४॥

दोहार्थ—हे मनुष्यो! मनुष्य का शरीर भजन करने के लिये, विषय-भोग करने के लिये नहीं है। अभी से विचारो (परमेश्वर का भजन करो) नहीं तो फिर चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करेगा॥ ४॥

चौरासी लक्ष योनियां ये हैं:—

स्थावरं विंशतिर्लक्षं जलजं नव लक्षकम्।
कूर्मं च रुद्र लक्षं च दश लक्षं च पक्षिणाम्॥
त्रिंश लक्षं पशूनां च चतुर्लक्षं च वानाराः।
ततः मनुष्यतां प्राप्त ततः कर्माणि साधयेत्॥

'स्थावर [वृक्षादि] बीस लाख, जलजन्तु [मछली आदि] नवलाख, कच्छप ग्यारह लाख, पक्षी दशलाख, पशु तीस लाख, और वानर चार लाख होते हैं अर्थात् इनकी योनियां चौरासी लाख होती हैं, इन चौरासी लाख योनियों में भ्रमण करने के बाद मनुष्य शरीर मिलता है, इसलिये कर्मों का साधन करना चाहिये (जिससे दुःख रूप इन योनियों से छुटकारा हो जाय)।

अब अन्तःकरण के उन दोषों को दिखलाते हैं, जिनसे अन्तःकरण के मलीन हो जाने से अपना स्वरूप जो ब्रह्मात्मा है, उसका ज्ञान नहीं होता है।

अन्तःकरण के दोष और उनकी निवृत्ति--

दोहा_मल विक्षेप आवर्ण यह, लगी उपाधी तीन।
देखि परे किमि आतमा, अन्तःकरणमलीन॥

दोहार्थ--जब कि मल, विक्षेप और आवरण, इन तीन उपाधियों के द्वारा अन्तःकरण [हृदय] मलीन हो गया है, तब आत्मा की पहिचान कैसे हो ? ॥ ५ ॥

भावार्थ--जैसे आकाश में मेघ के आच्छादित हो जाने से अथवा धूल के चढ़ जाने से या धूम [धुआं] के विस्तार हो जाने से सूर्य नहीं दिखलाई देता है, वैसे ही हृदयाकाश में मल, विक्षेप और आवरण के छा जाने से आत्मदेव का दर्शन नहीं होता है।

अब मल, विक्षेप और आवरण, इन तीनों का स्वरूप [परिभाषा] तथा इनकी निवृत्ति का उपाय कहते हैं:—

दोहा—मल कहते हैं पाप को, सो स्वधर्म से जाय।
चंचलता विक्षेप चित, थिर उपासना पाय॥६॥
आवर्ण कहत अज्ञान को, ज्ञान भये ते नाश।
तब मुमुक्षु ज्ञानी भया, तोड़ि अविद्या पास॥

दोहार्थ—मल पाप को कहते हैं, सो स्वधर्म अर्थात् अपने वर्णाश्रमानुसार कर्तव्य करने से नष्ट होता है और चित्त की चंचलता ही विक्षेप है, वह उपासना [शिव, विष्णु इत्यादि परमेश्वर के सगुण स्वरूप के ध्यान] से एकाग्र [शांत] होती है॥ ६॥

आवरण अज्ञानता को कहते हैं, जब ज्ञान होने से उसका नाश होता है, तब मुमुक्षु पुरुष अविद्या [माया] का बन्धन तोड़ कर ज्ञानी हो जाता है॥ ७॥

भावार्थ—जो कर्म निष्काम भाव से किया जाता है, उससे अन्तःकरण शुद्ध होता है और सकाम भाव से किया हुआ वही कर्म बन्धन का हेतु हो जाता है, इसलिये अपने वर्णाश्रम कर्म को निष्काम भाव से करना चाहिए, जैसे गीता में कहा है:—'योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगंत्यक्त्वाऽऽत्म शुद्धये'। 'योगी जन फल की आसक्ति को छोड़कर अन्तःकरण की शुद्धि के लिये

कर्म करते हैं। अन्तःकरण में सतोगुण की वृद्धि को अन्तः करण की शुद्धि कहते हैं।

यद्यपि सकाम कर्म के करने से भी अन्तः करण में सतोगुण का संचार होता है तथापि वह सतोगुण विवेक, वैराग्यादि का हेतु न होकर शुभ कर्म का फल जो सुख, उसका भोग देने में ही हेतु होता है, क्योंकि सुख भी सतोगुण से ही होता है और निष्काम कर्म तो अपना फल देता हुआ भी अन्तःकरण को शुद्ध कर देता है, परन्तु अपना फल सुख तथा अन्तःकरण की शुद्धि तभी तक करता है, जब तक कि अपने से ब्रह्म का अभेद ज्ञान नहीं हो जाता। ब्रह्म ज्ञान हो जाने पर उस ज्ञानी पुरुष का जन्म नहीं होता, अतः निष्काम भाव से किये हुए उसके क्रिया मात्र कर्म अपना फल नहीं देते हैं।

जो मन, वाणी तथा शरीर से किया जाय, उसे कर्म कहते हैं, इस नियम से उपासना [भक्ति] भी मानसिक क्रिया होने से कर्म ही है। इसलिये उपासना को भी कर्म में ही समावेश करके कर्म के स्वरूप का वर्णन करते हैं।

कर्म के अंग:—

दोहा-वर्णाश्रम के धर्म जो, भक्ति योग-अष्टाङ्ग।
मिलि उपासना कर्म के, होत यथोचित अङ्ग॥

दोहार्थ—चारों वर्णाश्रम के धर्म, भक्ति, अष्टांग-योग और उपासना, ये सब मिलकर कर्म के सम्पूर्ण अंग होते हैं अर्थात्

इन सब का कर्म में ही समावेश हो जाता है अथवा कर्म के हो श्रेणी में आ जाते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ— वर्ण चार हैं ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य; तथा शुद्र, इनमें ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य ये द्विजाति कहलाते हैं, क्योंकि इनकी जाति दो बार होती है। प्रथम तो जब माता पिता से जन्म लेते हैं तब, और जब मुञ्जी-मेखलादि द्वारा यज्ञोपवीत होता है तब दूसरी जाति होती है। जन्म दाता माता-पिता का नाम तो प्रसिद्ध ही रहता है परन्तु यज्ञोपवीतके समय सावित्री माता तथा आचार्य पिता होता है। शुद्र का संस्कार नहीं होता, अतः उसको द्विजाति नहीं कहते।

अब चारों वर्णों के धर्म का वर्णन करता हूँ:—धर्म दो प्रकार के होते है, एक सामान्य और दूसरा विशेष। सामान्य धर्म—वह धर्म है, जो चारों वर्णों के लिये हो।

प्रथम महाभारत में कहे हुए चारों वर्णों के लिए सामान्य धर्म का वर्णन करता हूँ।

वर्णों के सामान्य धर्मः—

सत्यं दमस्तपः शौचं सन्तोषो ह्रीः क्षमार्जवम् ।
ज्ञानं शमो दया ध्यानमेष धर्म सनातनः ॥ १ ॥
सत्यं भूतहितं प्रोक्तं मनसो दमनं दमः ।
तपः स्वधर्मवर्तित्वं शौचं शङ्करवर्जनम् ॥ २ ॥

सन्तोषो विषयत्यागो ह्रीकार्यनिवर्त्तनम् ।
क्षमा द्वन्द्व सहिष्णुत्वमार्जवं समचित्तता ॥ ३ ॥
ज्ञानं तत्त्वार्थसंवोधः समश्चित्तप्रशतंता ।
दया भूतहितैषित्वं ध्यानं निर्विषयं मनः ॥ ४ ॥

सत्य, दम, तप, शौच, संतोष, ह्री, क्षमा, आर्जव, ज्ञान, शम, दया और ध्यान, ये ब्राह्मणादि चारों वर्णों के सनातन धर्म हैं ॥ १ ॥

'सम्पूर्ण प्राणियों के कल्यान करने को सत्य, मन को कुकर्म से रोकने को दम; अपने धर्म में तत्पर रहने को तप; वर्ण शंकरों के परित्याग को शौच; विषयों के त्याग को सन्तोष; शास्त्र से निषिद्ध किये गये कर्मों से निवृत्त रहने को ह्री; मान-अपमान, शीत-उष्ण आदि द्वन्द्वों को सहन करने को क्षमा; चित्त के सम होने को आर्जव; तत्त्व (परमात्मा) के अर्थ (प्रयोजन) का जो सम्यक् वोध है [अर्थात् यह जानना कि जन्म-मरण आदि दुःखसे छुटने के लिये परमात्मा की प्राप्ति का प्रयोजन है] उसे ज्ञान; चित्त के शान्त होने को शम; सम्पूर्ण प्राणियों के हित की जो इच्छा है, उसे दया और विषय-वासना से मन के रहित होने को ध्यान कहते हैं।

इस प्रकार सामान्य धर्म का वर्णन करके अब चारों वर्णों के विशेष धर्म का पृथक-पृथक वर्णन करते हैं: —

वर्णों के विशेष धर्म—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ १ ॥
प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेवच ।
विषयेष्वप्रसक्ति च क्षत्रियस्य समादिशत् ॥ २ ॥
पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेवच ।
वणिक् पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च ॥ ॥
एकमेव तु शुद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत् ।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रुषामनसूयया ॥ ४ ॥

[मनुस्मृतिः]

'सृष्टि के आदि काल में सर्वज्ञ परमेश्वर ब्राह्मणों के लिये वेदों को पढ़ना तथा पढ़ाना, यज्ञ करना तथा कराना और दान देना तथा लेना, ये छः कर्म बनाये ॥ १ ॥ प्रजा की रक्षा, दान, यज्ञ, अध्ययन और विषयों में अनासक्ति इत्यादि क्षत्रिय के धर्म कहे ॥ २ ॥ पशुओं की रक्षा, दान, यज्ञ, अध्ययन, व्यौपार, धन की वृद्धि के लिए सूद लेना और कृषि इत्यादि धर्म वैश्य के लिये कहे ॥ ३ ॥ निन्दा आदि से रहित होकर ब्राह्मणादि तीनों वर्णों की सेवा करनी, यह धर्म शुद्र के लिये कहे ॥ ४ ॥

सन्ध्या की आवश्यकता—

ब्राह्मण; क्षत्री और वैश्य, इन तीनों वर्णों का अधिकार संध्या में है। ये तीन वर्ण संध्या करके ही किसी और कर्म के अधिकारी होते हैं। संध्याहीन पुरुष के किये हुए सभी कर्म निरर्थक हो जाते हैं, जैसे शास्त्र में कहा है:—

न गृह्णन्ति सुराःपूजा पितरः पिण्ड तर्पणम् । स्वच्छेया द्विजातिश्च त्रिसंध्यो रहितस्य चा ॥

'जो त्रिसंध्या से रहित स्वेच्छाऽचारी द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य) है उसके पूजा को देवता तथा पिण्ड-तर्पण को पितर ग्रहण नहीं करते, और भी कहा है:-

सर्वकर्म परित्यज्य सूतके मृतके तथा । नत्यजेन्मानसी संध्या न त्यजेत् शिवपूजनम् ॥ 'जन्म-सूतक तथा मरण-सूतक में संपूर्ण शुभ कर्मों को त्याग करके भी मानसिक संध्या तथा मानसिक शिव-पूजन न त्यागे'। क्योंकि-

विप्रो वृक्षस्तस्य मूलं चा संध्या वेदाः शाखा धर्म कर्माणि पत्रम् । तस्मान्मूलं यत्नतो रक्षणीयं क्षीन्ने मूले नैव शाखा न पत्रम् ॥ 'विप्र रूपी वृक्ष की जड़ संध्या है और वेद शाखा [डालियां] तथा धर्म-कर्म पत्ते हैं। इसलिये जड़ [संध्या] की रक्षा यत्न पूर्वक करने

योग्य है, 'क्योंकि जड़ [संध्या] के नष्ट हो जाने में शाखा [वेद] और पत्ते [धर्म-कर्म] नहीं रह सकते, और भी कहा है:-

एकाहं जप हीनस्तु संध्या हीनो दिनत्रयम् । द्वादशाहमनग्निश्च शूद्र एव न संशयः ॥ 'जो अधिकारी एक दिन गायत्री के जप से रहित, तीन दिन संध्या से रहित तथा बारह दिन अग्नि होत्र से रहित हो जाय, तो शूद्र ही हो जाता है, इसमें संशय नहीं है'। और भी:- **त्र्यहं संध्या विरहितो द्वादशाहं निरग्निकः । चतुर्वेद धरो विप्र शूद्र एव न संशयः ॥** 'जो ब्राह्मण तीन दिन तक संध्या से रहित है और बारह दिन तक अग्निहोत्र से रहित है, वह चारों वेदों का पढ़ने वाला क्यों न हो; निःसन्देह शूद्र है। इत्यादि प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि द्विजों को नित्य प्रति संध्या, जप तथा अग्निहोत्र अवश्य करने चाहिये।

पूर्व जो सामान्य धर्म वर्णों के लिये कहा गया है, वही आश्रमों का भी समझना चाहिए। अब विशेष धर्म का कथन कहते हैं।

ब्रह्मचर्याश्रम का धर्म—

मधु मांसाञ्जनं श्राद्धं गीतं नृत्यं च वर्जयेत् ।
हिंसां परापवादं च स्त्रीलीला विशेषतः ॥

मेखलामजिनं दण्डं धारयेच्च विशेषतः ।
अधःशायी भवेन्नित्यं ब्रह्मचारी समाहितः ॥
[शंख स्मृतिः अ० ३]

'मधु, मांस, अंजन, श्राद्ध का भोजन, गान, नाच, हिंसा, परायी निन्दा और विशेषकर स्त्रियों की लीला, इन्हें त्याग दे ॥ १३ ॥

मूंजादि की मेखला [कर्धनी], मृगछाला और दण्ड, इन्हें विशेषकर धारण करे तथा ब्रह्मचारी सावधानी से पृथ्वी पर शयन करे ॥ १४ ॥ मेखला, यज्ञोपवीत दण्डादि का विधान विस्तारभय से नहीं लिखता हूँ जिसे जानना हो, वह मनुस्मृति आदि में देख ले ।

पुनः ब्रह्मचारी को चाहिये कि शरीर में तेल इत्यादि का मर्दन न करे, छत्र न लगावे, जूता न पहने, ताम्बूल न खाय और दिन में न सोये तथा आठ प्रकार के मैथुन से निराला रहे। आठ प्रकार के मैथुन ये हैं:—

स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रिया निष्पत्तिरेव च ॥ १ ॥
एतानि मैथुनं अष्टं प्रवदन्ति मनीषिणाम् ।
ब्रह्मचर्यं विपरीतं मनुष्येभ्यः मुमुक्षुभिः ॥ २ ॥

'स्त्रियों का स्मरण, कीर्त्तन (नृत्य), हास्य (दिल्लगी), आसक्ति पूर्वक अवलोकन, एकान्त में वार्ता अथवा गोपनीय अंगों का कथन, उपभोग के लिए संकल्प, प्राप्ति के लिए प्रयत्न और प्रत्यक्ष प्रसंग; ये आठ प्रकार के मैथुन हैं। मोक्ष की इच्छा वाले मनुष्य के लिए ब्रह्मचर्य से विपरीत है। और भी कहा है:—

'ब्रह्मचारी नित्य प्रति संध्या, गायत्री का जप, अग्निहोत्र, ईश्वर-स्तुति; माता, पिता और गुरू की सेवा, विद्याध्ययन, सात्विक अहार इत्यादि कर्म करे और प्रति-दिन भिक्षा मागें। धोती, चादर और साफी श्वेत तथा स्वच्छ रक्खे' अब गृहस्थाश्रम का धर्म कहते हैं:—

गृहस्थ धर्म—

गृहस्थ को चाहिए की नित्य प्रति पंच यज्ञ करे; क्योंकि शास्त्र में कहा है:—

कण्डनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भी च मार्जनी ।
पंच सूना गृहस्थस्य ताभिर्स्वर्ग न विन्दति ॥ १ ॥

'ओखली, चक्की, चूल्ह, जल रखने के स्थान और झाड़ू, इनके द्वारा गृहस्थ के यहां पांच प्रकार की हत्यायें प्रति-दिन होती हैं, इसलिए गृहस्थ को स्वर्ग की प्राप्ति नहीं होती है। जब स्वर्ग भी नहीं मिलता तब मोक्ष की क्या आशा है? इन हिंसाओं की निवृत्ति के लिये ही शास्त्रों में पंच यज्ञ वर्णित हैं;

उनको प्रति-दिन करने से, गृहस्थ को हिंसा-जन्य, पाप नहीं होता। पंच यज्ञों का वर्णन शंख स्मृति में इस प्रकार है:—

देवयज्ञो भूतयज्ञः पितृयज्ञस्तथैव च।

ब्रह्मयज्ञो नृयज्ञश्च पञ्चयज्ञाः प्रकीर्तिताः ॥३॥

होमदेवो वलिर्भौतः पित्र्यः पिण्डक्रिया स्मृतः।

स्वध्यायो ब्रह्मयज्ञश्च नृयज्ञोऽतिथि पूजनम् ॥४॥

ब्रह्म यज्ञ, देवयज्ञ, पितृयज्ञ, भूतयज्ञ और मनुष्य यज्ञ (इसको नृयज्ञ अथवा अतिथि यज्ञ भी कहते हैं), ये पांचयज्ञ कहे गये हैं ॥ ३ ॥

ब्रह्मयज्ञ—वेद का पाठ तथा गायत्री का जप ब्रह्मयज्ञ कहलाता है।

पितृयज्ञ—नित्य प्रति तर्पण (पितरों को जल देना) तथा अमावस्या आदि पर्वों पर पितरों को पिंड दान देने को पितृयज्ञ कहते हैं।

भूतयज्ञ—गो, कौवा, श्वान आदि जीवों को नित्य-प्रति तैयार अन्न [भोजन] में से भाग देने को भूत यज्ञ कहते हैं।

देवयज्ञ—गायत्री आदि मन्त्रों से हवन करने को देवयज्ञ कहते हैं।

मनुष्ययज्ञ—ब्रह्मचारी, सन्यासी या कोई ईश्वर का भक्त अथवा किसी भी जाति या वर्ण का मनुष्य भूखा-प्यासा या शीत-उष्ण से मारा हुआ, भिक्षुक अकस्मात् अपने दरवाजे पर आ जाय, तो यथा शक्ति आसन, भोजन, जल वस्त्रादि से सुख पहुँचाने को मनुष्ययज्ञ कहते हैं। अत्री जी ने छः प्रकार के भिक्षुक कहे हैं, जैसे:—

ब्रह्मचारी यतिश्चैव विद्यार्थी गुरुपोषकः।
अध्वगः क्षीणवृत्तिश्च षडेते भिक्षुकाः स्मृताः ॥१६२॥

'ब्रह्मचारी, सन्यासी, विद्यार्थी, गुरु का पालन करने वाला, पथिक और दरिद्र ये छः प्रकार के भिक्षुक समझे गये हैं।

इन पांच 'यज्ञों को नित्य प्रति कर भोजन करे; इसके अतिरिक्त महाभारत, रामायण, श्रीमद्भागवत इत्यादि इतिहास पुराणों का अवलोकन करे और गुरु, पिता, माता, पुत्र, पत्नी, भाई, बन्धु, सुहृद, सेवक, परिवार, ग्राम तथा निज देश के प्रति यथायोग्य व्यवहार करे।' गृहस्थाश्रम के प्रति गौतम-स्मृति में और भी जो कहा है, उसका विस्तारभय से संस्कृत न लिखकर केवल हिन्दी में भाव ही लिखता हूं:—

वेद को पढ़कर ब्राह्मण विधि सहित स्नान करके विवाह करे; इसके पीछे शास्त्रोक्त नियम के अनुसार गृहस्थ धर्म का अनुष्ठान कर इन व्रतों को करे:—सदा पवित्र रहे; उत्तम-

उत्तम गंध वाले पदार्थों का सेवन करे तथा प्रति दिन स्नान करे; शील रक्खे; धन तथा समर्थ के रहते हुए पुराने, मलीन, रंगे हुए जीर्ण तथा दूसरे के वस्त्रों को न पहिने; पहनी हुई माला को, टूटे जूते को तथा एक काल में अग्नि और जल को धारण न करे। अँजली से जल न पीवे; (नदी में से) खड़े होकर निकाले हुए जल से आचमन न करे; शुद्ध और अशुद्ध मिले हुए तथा एक हाथ से निकाले हुए जल से आचमन न करे। वायु, अग्नि, ब्राह्मण, सूर्य, देवता, जल और गौ, इनके सम्मुख मूत्र, विष्ठा इत्यादि किसी भी अपवित्र वस्तु का त्याग न करे; देवताओं की ओर पैर न फैलावे; पत्ते, ढेला, पत्थर इनसे न तो मूत्र तथा विष्ठा का त्याग करे, अर्थात् इनसे सफाई न करे; और न भस्म, केश, नख, भुस्सी, कपाल (झिकड़ा) आदि अपवित्र वस्तुओं पर बैठे। चरती हुई गो तथा चरते हुए बछड़े को न तो किसी से बतावे, और न आप हटावे; मैथुन करके शीघ्र ही शौच करे; मैथुन की शय्या पर वेद न पढ़े; पिछली रात में पढ़कर फिर शयन न करे। असमर्थ तथा रजस्वला स्त्री के साथ मैथुन न करे; अग्नि को मुँह से न फूंके; गर्व से युक्त वचन न बोले; बाहरी गंध तथा माला धारण न करे; पापी के साथ व्यवहार न करे; भार्या के साथ भोजन न करे; जिस समय स्त्री नेत्रों में अञ्जन लगाती हो, उस समय उसे न देखे; खोटे द्वार पर न जाय; दूसरे से पैर न धुलावे (अपने से छोटों से शिष्टाचार के लिये धुलावे);

जिस भोजन में सन्देह हो, उसे न खाय; (आपत्ति के विना) हाथों से नदी को न तैरे; विष या कांटे वाले वृक्षों पर चढ़ना इत्यादि जिनमें प्राणों की शंका हो, उनको त्याग दे; टूटी हुई नौका पर न चढ़े; सब प्रकार से आत्मा की रक्षा करे; दिन में नंगे सिर न फिरे और रात में शिर को ढक कर मल-मूत्र का त्याग करे। पृथ्वी को तृणादि से विना ढके मल-मूत्र का त्याग न करे; भस्म, सूखा, गोबर, जूता, खेत, छाया, मार्ग और अच्छी वस्तु, इनमें मल का त्याग न करे, दिन के समय उत्तर को, संध्या और रात्रि के समय दक्षिण मुख करके मल-मूत्र का त्याग करे; ढाक का न तो आसन बनावे और न खड़ाऊ, तथा इसकी दतौन भी न करे; पैरों में जूते पहन कर भोजन; उपवेशन, शयन, स्तुति और नमस्कार न करे; यथा-शक्ति प्रातः और सायंकाल को निष्फल न जाने दे अर्थात् संध्या, जप, हवन, ईश्वर ध्यानादि में वितावे; परन्तु और समय धर्म अर्थ और कामों में व्यतीत करे; इन तीनों में धर्म ही उत्तम है। दूसरे की नंगी स्त्री को न देखे; पैर से आसन को न खींचे; लिङ्ग, उदर, हाथ पैर, वाणी और नेत्र इनको चञ्चल न करे। छेदन करना, भेदन करना, विलेखन करना, मलना, हाथ से हाथ को बजाना; इन कर्मों को विना प्रयोजन न करे। रस्सी पर तथा जल के तट पर न बैठे; वरणी किये विना यज्ञ में न जाय; परन्तु देखने के लिये इच्छानुसार जाय; खाने की वस्तु को गोदी में रखकर न खाय; रात को सेवक की लाई

हुई, स्त्री से रहित, रूखी, बासी, जूठी, निर्जल मट्ठा और गरीष्ट; इन वस्तुओं को न खाय। प्रातःकाल और सायंकाल अन्न की निन्दा न करते हुए भोजन करे; रात को नंगा शयन न करे; नंगा स्नान भी न करे; दीक्षित, दंभ, मोह तथा लोभ से रहित और वेद के जानने वाले आत्मज्ञानी तथा वृद्ध पुरुप जिस कर्म को करने को भलीभांति कहें, उस कर्म को सर्वदा करता रहे। योगक्षेम के लिये धनी के समीप जाय, (अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति करने को योग और प्राप्त वस्तु के रक्षा करने को क्षेम कहते हैं); देवता, गुरु और धर्मज्ञ; इनको छोड़कर और के घर में निवास करने के लिए यत्न न करे; जिस स्थान में काष्ट, जल, भूसा, कुशा, फल और मार्ग, ये अधिक प्राप्त हों, तथा जहां बहुत सज्जन पुरुप निवास करते हों एवं जिस स्थान में अग्निहोत्र होता हो, वहां निवास करे। श्रेष्ट तथा माङ्गलिक वस्तु और चौरास्ते, इनको दाहिनी ओर करके गमन करे; पीड़ादि आपत्तियों से ग्रस्त होने पर भी मन ही मन सम्पूर्ण धर्माचरणों का पालन करे; सर्वदा सत्य धर्म से सज्जनों का आचरण करे; सत्पुरुषों को पढ़ावे; पवित्रता की शिक्षा दे और स्वयं भी वेद पढ़ता रहे; कभी हिंसा न करे; नम्रता से दृढ़ कर्म करे; इन्द्रियों को दमन करे; दान करे; शील रक्खे; इस प्रकार आचरण करता हुआ माता, पिता पहले-पिछले सम्बन्धियों को पाप से मुक्त करने की इच्छा वाला गृहस्थ सनातन ब्रह्म लोक में निवास करता है। यदि निष्काम भाव से

करे, तो हृदय शुद्ध होकर ज्ञान द्वारा मुक्ति हो जाती है।

गृहस्थाश्रम के धर्म का वर्णन हो चुका अब थोड़ा सा व्यास स्मृति के अनुसार स्त्री-धर्म का भी वर्णन कर देता हूँ, परन्तु ग्रन्थ के विस्तार भय से श्लोक न देकर उन श्लोकों का भाव ही केवल भाषा में लिखता हूँ।

स्त्री-धर्मः—

[व्यास स्मृति अध्याय २ श्लोक १९ से ४५ तक]

स्त्री पति से प्रथम उठ कर स्नानादि से देह की शुद्धि करके शय्या आदि को उठा शोधन कर झाड़ने तथा लीपने से अग्नि के घर (अग्नि होत्र का घर) और अपने आंगन को पवित्र करे, इनके बाद हवन के अनुकूल पात्रों को गरम जल से धोकर यथा स्थान पर रख दे; जोड़े के पात्रों को पृथक कभी न रक्खे; इसके पीछे और पात्रों को शुद्ध कर जल आदि से भर करके मिट्टी से चूल्हे को लीप उसमें अग्नि रखदे; तब वर्तन के पात्रों को और रस के द्रव्य को स्मरण कर प्रातः काल के काम को करके अपने माता, पिता, पति, श्वशुर, भाई, मामा और बांधव, इनके दिये हुए आभूषणों को धारण करे, यह पतिव्रता स्त्री पति की आज्ञानुवर्तिनी हो कर मन, वचन और काया से पवित्र स्वभाव का प्रकाश कर छाया के समान पति के पीछे चले, निर्मल चित्त वाली सखी के समान पति का हित करे, स्वामी की आज्ञा पालन करने में दासी के समान व्यवहार करे; इनके

उपरान्त भोजन बनाकर पति को निवेदन करे; बलि वैश्वदेवादि कार्य के समाप्त करने पर उस अन्न से खिलाने के योग्य (पुत्रादिकों को) भोजन कराकर फिर पति को जिमावे; और फिर स्वामी की आज्ञा से शेष बचे हुए अन्न को आप खाय; भोजन करने के बाद शेष दिन को आमदनी और खर्च के हिसाब में व्यतीत करे, पश्चात् फिर प्रातः काल के समान सन्ध्या को भी घर की शुद्धि करके व्यंजनादि बनाकर साध्वी स्त्री अत्यन्त प्रीति से पति को भोजन करावे, और फिर स्वयं भी हलका अहार कर गृहस्थ की नीति को करके उत्तम शय्या बिछाकर पति की सेवा करे, पति के सो जानेपर पति में ही चित्तवाली वह स्त्री पति के निकट सो जाय, निद्रा के समय नंगी न हो तथा प्रमत्त न हो कर इन्द्रियों को जीती रहे, ऊंची और कठोर वाणी न कहे, पति को अप्रिय वचन न कहे-किसी के साथ लड़ाई झगड़ा न करे, अनर्थकारी और वृथा न बोले, व्यय (खर्च) में अपना मन लगाये रक्खे अर्थात् कृपण न हो, धर्म और अर्थ का विरोध न करे (धर्म से अर्थ और अर्थ से धर्म होता है, अतः इन दोनों का सम्पादन करे,) असावधानी, उन्माद, क्रोध, ईर्षा, ठगाई, अत्यन्त मान, चुगुलपन, हिंसा, वैर, मद, अहंकार, धूर्तपन, नास्तिकता, साहस, चोरी, दंभ, साध्वी स्त्री इन सबका त्याग कर दे; इस प्रकार परमात्मदेवस्वरूप पति की सेवा करने से वह स्त्री इस लोक में कीर्ति यश तथा सुख को भोगकर पर लोक में पति के लोक को प्राप्त होती है। इसी प्रकार स्त्रियों के नित्य कर्म कहे हैं।

विधवा स्त्री का धर्म—

यदि अपने शरीर से पहले पति का शरीर छूट जाय, तो वह स्त्री यह समझे की परमेश्वर ने हमारे लिये सन्यास धर्म भेजा है। परमात्मा की मूर्ति जो पतिदेव थे, उनकी सेवा सुश्रुषा रूपी उपासना द्वारा जब मेरा चित्त शुद्ध एवं शान्त हो गया; तो परमेश्वर ने यह समझ कर कि—"इसके कर्म तथा उपासना, ये दोनों धर्म पूरे हो गये, अब इसका निर्गुण ब्रह्म के ध्यान में अधिकार है", साकार प्रतिमा (पतिदेव) को छीन ली। इसलिये वह अपने शिर के केशों को मुड़ाकर सम्पूर्ण भूषणों का तथा रंगे हुए वस्त्रों का त्याग करके निरन्तर एकान्त सेवी होवे। नाच, गान, तमाशा, विषयी स्त्री तथा पुरुषों के संग से निराला रहे, मेला—बाजार में न जाय, अपने पुत्रादि सम्बन्धियों से सात्विक भोजन लेकर केवल शरीर निर्वाह मात्र खावे, मन तथा इन्द्रियों को स्वाधीन रख कर नित्य—निरन्तर परमात्मा का चिन्तन करती रहे। इस प्रकार से जीवन को व्यतीत करने वाली वह देवी परमात्मारूप आत्मा का साक्षात्कार कर लेती है और शरीर के छूटने पर आवागमन से मुक्त हो जाती है।

स्त्री—धर्म संक्षेपतः हो चुका, अब वानप्रस्थाश्रम का धर्म कहता हूँ, जो कि धर्म शास्त्रों में वर्णित है।

वानप्रस्थी का धर्मः—

जब पुत्र का भी पुत्र हो जाय अथवा दो पुत्र और एक कन्या हो जाय तो कन्या दान कर दे, और पुत्र को काम-काज सौंप कर यदि स्त्री भी चलना स्वीकार करे तो साथ में लेकर वन में चल दे, वहां जाकर पर्ण-शाला निर्मित करे, और उसमें निवास करता हुआ प्रतिदिन सन्ध्या तर्पण,जप, ईश्वर-स्तुति तथा ईश्वर का ध्यान करे, और कृच्छ्र चान्द्रायण आदि तप भी करे। जब क्षेत्रों में अन्न कट जाय तथा पशु पक्षी भी खा जांय, तब अन्न-कणों को बिन कर कुटी में रक्खे, उसी अन्न से अतिथि सत्कार करता हुआ स्त्री समेत अपना निर्वाह करे। दाढ़ी मूंछ शिरके बाल इत्यादि न बनावे, तथा सर्दी-गर्मी का सहन करे। जब क्षेत्रों में नवीन अन्न तैयार हो जांय तब कुटी में के अन्न को गरीबों तथा पशु पक्षी आदि को दे दे, और फिर बिने। जब तक अन्तःकरण शुद्ध होकर विवेकादि अन्तरङ्ग साधन प्राप्त न हो जाय, तब तक इसी तरह जीवन व्यतीत करे, और जब दृढ़ वैराग्य हो जाय, तो स्त्री को घर पुत्रों के पास भेज कर सन्यास ले ले।

पूर्वोक्त वाणप्रस्थी का धर्म अन्य युगोंके लिये है, कलियुग में इसका पालन होना अति कठिन है, अतः कलियुग में चाहिये कि जब पुत्र सयाने हो जांय, तो स्वयं स्त्री, पुत्र, धन इत्यादि विषयों को क्षणिक मिथ्या तथा दुख रूप समझ कर चित्त को

हटा करके ईश्वर में जोड़े, क्योंकि कहा है:-'द्रव्याणि भूमौ पशवश्च गोष्ठी नारी गृहे द्वार जनस्मशाने। देहश्चितायां परलोक मार्गे कर्माणि गो गच्छति जीवमेकम्' ॥ अर्थात् शरीर छूटने के बाद द्रव्य पृथ्वी में, पशु, पशुशाला में, स्त्री घर में से दरवाजे तक, परिवार स्मशान में और देह चिता में रह जाती है, परन्तु परलोक मार्ग में एक जीव के साथ कर्म, तथा इन्द्रियां [सूक्ष्म शरीर] येही जाते हैं। साथ में कर्म ही जाने वाला है, इसलिये गुरुमन्त्र का जप, ईश्वर-स्तुति, व्रतादि करता हुआ मन वाणी तथा शरीर से किसी को कष्ट न देकर अतिथि-सत्कार तथा वेदान्त-चिन्तन में लगा रहे। घर तथा शरीर को धर्मशाला (पथिक का निवास स्थान), परिवार को यात्रियों का शमागम, आयु को जल का बुलबुला तथा धन को चरण की धूल समझे एवं सदा सबके प्रति शीलता नम्रता तथा सत्यता का व्यवहार रक्खे, इस प्रकार के नियमों का पालन करने वाला मनुष्य गृहस्थाश्रम में रहता हुआ भी वाणप्रस्थी ही है।

वाणप्रस्थाश्रम का धर्म हो गया और सन्यास आश्रम के धर्म का वर्णन द्वितीय अञ्जली में करेंगे, यहां इसलिये नहीं करते हैं कि सन्यास आश्रम तो विवेकादि चार साधनों के बाद होता है तथा यहां आश्रम धर्म चार साधनों की प्राप्ति के लिये कहा गया है; और विचार करके देखिये तो ईश्वरार्पण-

पूर्वक निष्काम कर्म करने से अर्थात् फल के न्यास (त्याग) से यह भी एक तरह का सन्यास ही हो जाता है; क्योंकि भगवान् ने श्री मद्भगवत्-गीता में कहा है—

अनाश्रितः कर्म फलं कार्यं कर्म करोति यः।
स सन्यासी च योगी च न निरग्निर्नचाक्रियाः॥

'हे अर्जुन! जो पुरुष कर्मफल से अनाश्रित हुआ करने योग्य कर्मों को करता है, वह भी (गौड़) सन्यासी तथा योगी है केवल अग्निहोत्र तथा संध्यादि क्रियाओं को छोड़ने वाला ही नहीं, अर्थात फल के सहित कर्मों का त्याग कर देने वाला मुख्य सन्यासी तो श्रुति-शास्त्रों में प्रसिद्ध ही है, परन्तु कर्म-फल को छोड़ने वाला भी गौड़ सन्यासी है, क्यों कि फल के संकल्प का त्याग गौड़ सन्यासी में भी है और त्याग को ही सन्यास कहते हैं। वर्णाश्रम का धर्म होगया। अब भक्ति का वर्णन करते हैं, शास्त्रों में भक्ति के नव अङ्ग कहे गये हैं।

भक्ति के अङ्गः—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥

'भगवान् की कथा का श्रवण करना, उनका कीर्तन, उनका स्मरण करना, उनके पादों का सेवन करना, उनका पूजन

करना, उनकी वन्दना (स्तुति) करनी, उनमें दास्य भाव रखना और उनको आत्मसमर्पण कर देना, ये नव भागवत धर्म कहे जाते हैं और इन्हीं को नवधा भक्ति भी कहते हैं।

यम, नियम, आसन प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, ये हठ योग के आठ अंग है।

यम पांच प्रकार का होता है, जैसे 'पाताञ्जलि' नामक योग शास्त्र में कहा है:—**अहिंसा सत्यास्तेय ब्रह्मचर्या-परिहाः यमाः।** अर्थात् अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये यम हैं, इनमें मन वाणी और शरीर से किसी जीव को कष्ट न देना अहिंसा, जैसा सुना हो या देखा हो और देख सुनकर जैसा विचार किया हो, वैसा कह देना सत्य; विना उसकी प्रसन्नता के किसी के पदार्थ को न लेना अस्तेय, पर स्त्री गमन न करना और स्वप्नमें भी वीर्य-रक्षा करना ब्रह्मचर्य और शरीर के निर्वाह मात्र से अधिक संग्रह न करना अपरिग्रह है। नियम भी पांच प्रकार का होता है, जैसे:—

शौच संतोष तपः स्वाध्यायेश्वर प्रणिधानि नियमः।

अर्थात शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान ये नियम हैं। इनमें जल मृत्तिकादि से बाहरी स्थूल शरीरको साफ़ रखना, तथा राग, द्वेषादि की निवृत्ति से भीतरी मन को पवित्र करना शौच, प्रारब्धानुसार प्राप्त विहित पदार्थों में सन्तुष्ट रहना संतोष; प्रणाव का निरंतर स्मरण तथा वेद पाठ स्वाध्याय, इंद्रियों

को विषयों से रोक कर स्वधर्म में लगाना तप और ईश्वर का पूजन ईश्वर प्रणिधान कहलाता है। आसन तो योगग्रन्थों में वहुत हैं, परन्तु, अभ्यास के लिये सिद्धासन और पद्मासन, येही दो विशेष उपयोगी हैं, जो कि सर्वसाधारण को ज्ञात हैं।

पूरक, कुम्भक और रेचक करने को प्राणायाम कहते हैं। दाहिने हाथ के अगूंठे से नाक के दाहिने छिद्र को बन्द करके वायें छिद्र से धीरे-धीरे श्वासा खींचे और प्रणव मंत्र को धीरे-धीरे मन में ही सोरह वार स्मरण करे; तव अनामिका तथा कनिष्ठिका, इन दोनों अगुलियों से नाक के वायें छिद्र को वन्द करके प्रणव मंत्र का स्मरण चौसठ वार करे; फिर नाक पर से अंगूठे को हटा कर दाहिने छिद्र से श्वासा को धीरे-धीरे छोड़े और साथ ही साथ प्रणव मंत्र को वत्तीस वार स्मरण करे; फिर छोड़ी हुई वायु को उसी दाहिने स्वर से खींच कर कुम्भक करे और कुम्भक करके वायें छिद्र से रेचक कर दे, इस वारी भी पूर्वोक्त प्रकार से प्रणव के स्मरण की संख्या करतो जाय। इसी लोम-विलोम से दश, पन्द्रह या वीस प्राणायाम अपनी शक्ति के अनुसार सुवह-शाम करे। जैसे योग-ग्रन्थ में कहा है:—**इड़यापिव षोड़शभिर्पवनं कुरु षष्ठिचतुष्टयमन्तर्गे। तजि पिंगलया शनकैः शनकैः दशभिर्दशभिर्दशभिद्र्धिकैः॥** प्राणायाम के अनुकूल भोजन आसन, स्थानादि का वर्णन इसी ग्रन्थ के द्वितीय-अञ्जलि के

(जिज्ञासु के आवश्यक नियम) आदि विषय में है। शरीर के संम्पूर्ण प्राणों को वशीभूत करके ब्रह्मरन्ध्र में चढ़ा देने को प्रत्याहार, प्राण वायु के सहित चित्त को अपने धेय स्थान में देर तक ठहराने को धारणा, धेय में वारम्वार चित्त को लगाने के अभ्यास को ध्यान और जब चित्त धेयाकार हो जाता है तथा ध्याता, ध्यान एवं धेय रूप त्रिपुटी का अभाव हो जाता है, तब उसको समाधि कहते हैं। यहां मैंने केवल दिग्दर्शन मात्र कराया है; धारणा, ध्यान और समाधि का रहस्य गुरु कृपा से केवल अपने अनुभव द्वारा जाना जाता है इसी को अष्टांग योग कहते हैं, इनमें से एक-एक अंग के अनेक भेद योग शास्त्र में वर्णित हैं, उन्हें विस्तार के भय से यहां नहीं लिखते और केवल पुस्तक पढ़कर करने से यह योग उपयोगी भी नहीं होता है, वल्कि जो इस योग—कला में कुशल (प्रवीण) हो, ऐसे आचार्य के उपदेशानुसार सावधानी-पूर्वक साधन करने से उपयोगी होता है तथा यह अत्यन्त चित्त-चंचल वाले के लिये है। साधारण विक्षेपता के लिये तो उपासना ही पर्याप्त है, इसलिये अब उपासना का वर्णन करता हूँ।

उपासना:—

विष्णु, शिव, राम, कृष्ण इत्यादि विग्रहधारी ईश्वर के ध्यान करने को उपासना कहते हैं, वह उपासना दो प्रकार की

होती है:-एक भेद भाव से और दूसरी अभेद भाव से। भेद भाव उसको कहते हैं कि उपासक इस भाव से ध्यान करता है कि हे स्वामिन्! मेरा भरण-पोषण करने वाला तथा शरण, सुहृद, माता और पिता आदि केवल एक आपही हैं, हे प्रभो मैं यही चाहता हूँ कि इस लोक में मनुष्य-शरीर से या कीट-पतंगादि शरीर से रहूं, अथवा परलोक में रहूँ, परन्तु मेरे हृदय में आपकी भक्ति बनी रहे, मेरा मन आपके कमल-चरण छोड़ कर कहीं न जाय, आपकी मधुर छवि मनोहर मूर्ति हृदय में सदा बसी रहे; सेव्य-सेवक का भाव बना रहे, बस इसी में मैं निहाल हो जाऊँगा, अपने को मैं इसीमें कृतार्थ समझता हूँ।

इस प्रकार के भेद भाव से उपासना करने वाले की उपासना जब दृढ़ हो जाती है, तो वह स्थूल शरीर छोड़कर उत्तरायण मार्ग के द्वारा ब्रह्म लोक में पहुंचता है; वहां जाते ही वह उपासक उस लोक को अपने स्वामी का लोक देखता है। नारायण के उपासक को वह ब्रह्म लोक वैकुण्ठ दिखलायी देता है तथा वहां पर जय, विजय, आदि जितने पुरुष रहते हैं, वे चतुर्भुजी तथा शंख, चक्र, गदा और पद्म लिये दिखलायी देते हैं और वहां के स्वामी नारायण प्रतीत होते हैं। शिवके उपासक को वह ब्रह्मलोक कैलास तथा वहां के निवासी त्रिशूल, डमरू इत्यादि धारण किये हुए शिव सरीखे दिखलायी देते हैं और वहां के स्वामी महादेव प्रतीत होते हैं, इसी प्रकार राम, कृष्णादि के उपासकों के विषयमें भी समझ

लेना चाहिये वह लोक अपनी भावना के अनुसार प्रतीत होता है; यह वार्ता ब्रह्म सूत्र में भाष्यकार ने सविस्तार लिखी है।

उस ब्रह्मलोक में पहुंचा हुआ पुरुष जगत की सृष्टि,स्थिति तथा लय को छोड़ कर जो संकल्प करता है, वही प्राप्त हो जाता है। जगत की सृष्टि आदि तो ईश्वर का प्रकरण है, अतएव इसमें वह असमर्थ होता है।

वहां उस लोक में उस उपासक को उपदेश के विनाही शुद्ध ब्रह्म से अभेद ज्ञान हो जाता है, क्योंकि वह लोक शुद्ध-तपोगुण प्रधान है। उसे जब स्वामी का मायामय विग्रह तथा अपना पंचभौतिक शरीर कल्पित [मिथ्या] प्रतीत हो जाता है, और स्वामी का शुद्ध स्वरूप जो ब्रह्म और अपना स्वरूप जो कूटस्थ ये दोनों एक भासते हैं, अर्थात् इनमें कुछ भी भेद प्रतीत नहीं होता है, तब वह उपासक अपनी उपासना के फलस्वरूप जीवन मुक्ति के अनन्त सुख को ब्रह्मा की आयु-पर्यन्त भोग कर ब्रह्मा के साथ ही मुक्त हो जाता है अर्थात् ब्रह्मरूप से स्थित होकर संसार में जन्म नहीं लेना है। यह बात श्रीमद्भगवद्गीता में भी प्रतिपादित है, जैसेः—

'यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम'। 'एकया यात्यनावृत्तिमन्यया वर्त्तते पुनः'॥ अर्थात् हे अर्जुन! जहां जाकर प्राणी नहीं लौटते हैं, वह मेरा परम धाम है। एक [उत्तरायण मार्ग] के द्वारा [जाने वाला उपासक] नहीं

लौटता है और (स्वर्ग की कामना से यज्ञादि कर्मों का करने वाला सकामी पुरुष) दूसरे (दक्षिणायन मार्ग) के द्वारा (स्वर्गमें अपने कर्म फल को भोग कर फिर) लौट आता है।

जो उपासक इस भावसे अपने उपास्यदेव का ध्यान करता है कि हे स्वामिन् ! आपका स्वरूप जो मेरा आत्मा है, वह अज्ञान रूपी आवरण से ढक गया है; इसलिये मुझे जन्म-मरणादिरूप बन्धन प्रतीत हो रहा है; अतः आप अनुग्रह करके मेरे इस आवरण को दूर करें, ताकि आत्म देव का दर्शन कर मैं शोक को पार कर जाऊं। जब इस प्रकार की उपासना करने वाले का चित्त इस जन्म में अथवा अनेक जन्मों में शुद्ध होकर स्थिर हो जाता है और उस शुद्ध तथा स्थिर अन्तः-करण में ब्रह्मात्मा का अभेद ज्ञान हो जाता है; तो उस ज्ञान के द्वारा प्रपंच का कारण जो आवरण स्वरूप अज्ञान है, उसका नाश होकर परमानन्द की प्राप्ति हो जाती है; इसके बाद वह जीवनमुक्त पुरुष मायाके बन्धन से मुक्त होकर प्रारब्धगत की प्रतीक्षा करता हुआ लोकदृष्टि से इस लोकमें शरीरधारी होकर के जीवन मुक्ति के सुख को भोगता है और शरीर के पात (नाश) होने पर विदेहमुक्त हो जाता है अर्थात् उसके प्राण अन्य लोकों में न जाकर वहां ही सर्वाधिष्ठान शुद्धब्रह्म में लय हो जाते हैं, फिर वह पुरुष इस संसार में जन्म नहीं लेता। जैसे नदी जब समुद्र के शरण में जाती है, तो अपने टेढ़े-मेढ़े चाल को तथा अपने नामरूप एवं मलीनता को त्याग कर समुद्र

रूप हो जाती है, वह फिर पीछे नहीं लौटती, वैसे ही वह पुरुष भी जीवत्व भाव को छोड़ कर ब्रह्मरूप हो जाता है, यही परमात्मा के शरण में जाना कहलाता है। जैसे भगवान् ने श्री मद्भगवद्गीता में कहा है:—**सर्व धर्म परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥** अर्थात् ऐ अर्जुन ! अज्ञान और अज्ञानजनित कर्ता भोक्तापन, परिच्छिन्न, अल्पज्ञतादि जितने जीवके धर्म हैं, उनको त्याग कर एक मेरे शुद्ध सच्चिदानन्द नित्य-मुक्त के शरण में आ जा अर्थात् जैसे घटाकाश अपने घट रूप उपाधि को त्याग कर जब महाकाश के शरण में जाता है, तो उसकी परिच्छिन्नता तथा घटाकाश संज्ञा मिट जाती है और वह महाकाश रूप ही हो जाता है, वैसे ही तू मेरे शरण में आकर नित्यमुक्त शुद्ध सच्चिदानन्द हो जा; मैं तुझे सम्पूर्ण पापों से मुक्त कर दूंगा, तू शोच मत कर अर्थात् मेरे शरण में आकर मद्रूप हो जाना ही मेरा सब पापों से छुड़ाना है।

यद्यपि अग्नि, सूर्य, वैश्वानर, पंचाग्नि आदि की उपासनाएं भी उपनिषदों में वर्णित हैं और उनके उपासक भी उत्तरायण द्वारा ब्रह्मलोक में ही जाते हैं परन्तु उनको वहां स्वतः ज्ञान न होकर ब्रह्मा से उपदेश पाकर अद्वैत तत्व का ज्ञान होता है और ब्रह्मा की आयु पर्यन्त वहां के सुखों का उपभोग कर वे ब्रह्मा के साथ ही विदेह मुक्त होते हैं, तथा उनके लिये

कोई निश्चय भी नहीं है कि ये ब्रह्मासे ज्ञान पाकर मुक्त ही हो जाते हैं, चित्त में वासना के जागृत हो जाने पर वे फिर संसार में लौट भी आते हैं, इसी पर श्री कृष्ण जी ने कहा है:-**आब्रह्म भुवनाल्लोका पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन ।** अर्थात् हे अर्जुन! पृथ्वीलोक से लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त सभी लोक पुनरावर्ति हैं अर्थात् इन लोकों को पाकर फिर संसारमें लौटना पड़ता है।

परन्तु विष्णु, शिव, राम कृष्णादि की उपासना में यह विलक्षणता है कि उनके उपासक अवश्य मुक्त होकर, फिर संसार में नहीं लौटते। राम, कृष्णादि और सांसारिक मनुष्यों में यह अन्तर है कि मनुष्यों के शरीर तो अपने कर्मानुसार मिलते हैं तथा अविद्या के परिणाम पंचभूतों से वनते हैं और ये ब्रह्मनिष्ठ गुरू के उपदेशानुसार साधन करके वन्धन से मुक्त होते हैं, परन्तु राम, कृष्णादि के शरीर शुद्धसतोगुणप्रधान मायामय हैं; उनमें हड्डी, मांस, रुधिरादि वास्तव में नहीं रहते, किन्तु देखने मात्र प्रतीत होते हैं। जैसे मायावी के रचे हुए पदार्थ सत्य न होते हुए भी केवल प्रतीत मात्र होते हैं। उन शिव, रामादि के शरीर अपने कर्मानुसार नहीं वनते हैं; वल्कि आततायियों के अत्यन्त अत्याचार करने से जव महात्मा जन अति पीड़ित होकर प्रार्थना करते हैं, तव ईश्वर अपने सत्य संकल्प के द्वारा जगत को मायामय विग्रह दिखलाते हैं और दुष्टों का नाश एवं धर्म तथा भक्तों का उद्धार करके अन्तर्धान

हो जाते हैं। राम, कृष्णादि जो ईश्वर हैं, उनकी उपाधि शुद्ध-सतोगुणप्रधान माया है, अतः वे सदा मुक्त रहते हैं अर्थात् उन्हें अपने स्वरूप में बन्धन प्रतीत नहीं होता है। उत्तरायण और दक्षिणायन मार्ग के विषय में मैंने 'आत्मा प्रकाश' के आठवें परिच्छेद में सविस्तार वर्णन किया है।

पूर्वोक्त विवेचन से यह सिद्ध हो गया कि मल तथा विक्षेप की निवृत्ति पूर्वक हृदय की शुद्धता तथा स्थिरता के लिये कर्म तथा उपासना करना अत्यावश्यक है; अतः मुमुक्षु पुरुषों को कर्म तथा उपासना का सम्पादन अवश्य करना चाहिए। अब हृदय-शुद्धि की आवश्यकता दिखलाते हैं:—

हृदय-शुद्धि की आवश्यकता:—

दोहा—हिय कि शुद्ध बिनु कर्म के,
ज्ञानकि हृदय मलीन।
मोक्षकि ज्ञान बिना भये,
सौख्य कि मोक्ष विहीन॥ ९॥

दोहार्थ—बिना कर्म किये हृदय शुद्ध हो सकता है? कि मलीन हृदय में ज्ञान हो सकता है? कहीं ज्ञान के बिना मोक्ष हो सकता है? कि मोक्ष के बिना सुख हो सकता है?

भावार्थ:—निष्काम कर्म के द्वारा अंतःकरण की शुद्धि होती है, अन्तःकरण की शुद्धि से परमेश्वर का ज्ञान, परमेश्वर

के ज्ञान से आवरण (अज्ञान) की निवृत्ति द्वारा मोक्ष, और मोक्ष से अक्षय सुख प्राप्त होता है। अब यह दिखलाते हैं कि इसमें कोई नियम नहीं है कि वर्णाश्रम के धर्म आष्टांग योग, नवधा भक्ति इत्यादि सम्पूर्ण कर्मों के करने से ही हृदय शुद्ध होकर ज्ञान होता है, वरन् किसी एक के द्वारा भी ज्ञान हो जाता है।

एक मार्ग से भी सिद्धिः—

दोहा—कर्म योग से अन्यरत,
पातांजलि के ऽभ्यास ।
अन्य भक्ति से सिन्धु-सुख,
पैठि बुझावहिं प्यास ॥ १० ॥

दोहार्थ—कोई अपने वर्णाश्रम कर्म को ही निष्काम भाव से करके, कोई पातांजलि-योग में लीन रहकर अर्थात् यम, नियम, आसन प्राणायाम, प्रत्याहार; धारणा, ध्यान और समाधि के अभ्यास से और कोई नवधा भक्ति के द्वारा (आत्मारूपी) सुख के सागर में निमग्न होकर प्यास (सुख-अथवा विश्राम की तृष्णा) मिटाते हैं ॥१०॥ भाव यह कि:—जो पूर्व जन्म के संस्कार के अनुसार शास्त्र में वर्णित किसी एक मार्ग को भी पकड़ लेता है, तो उसका उसी मार्ग से हृदय शुद्ध हो जाता है। अपने मार्ग के द्वारा हृदय के शुद्ध हो जाने पर सबकी एक ही दशा हो जाती है। जैसे:—

दोहा—शत्रु मित्र लोष्ठाश्मसम,
अरु शीतोष्ण समान।
सुख-दुख सम जानहिं सभी,
तथा मान-अपमान॥ ११॥

दोहार्थ—गुणातीत, ज्ञानी, कर्मयोगी, हठयोगी और भक्त, ये सब ही शत्रु, मित्र, मिट्टी, पत्थर (मणि), उष्णता, सुख और दुख में सम रहते हैं तथा ये लोग मान और अपमान को भी बराबर जानते हैं। भाव यह कि:—मार्ग अनेक हैं, परन्तु पहुंचने का स्थान एक ही है, अतएव वहां पहुँच कर सब की अवस्था एक ही हो जाती है; यद्यपि शारीरिक आचरण भिन्न-भिन्न रहते हैं॥ ११॥

इति बहिरंग साधन समाप्तम्।

द्वितीयाऽञ्जलिः

अंतरंग साधन

हृदय के शुद्ध हो जाने पर विवेक, वैराग्यादि चार अंतरंग साधन प्राप्त होते हैं अर्थात् साधक इन साधनों को करने में समर्थ होता है; इसी पर जगद्गुरु श्री शंकराचार्य जी ने "अपरोक्षानुभूति" में कहा है:—

स्ववर्णाश्रम धर्मेण तपसा हरितोषणात् ।
साधनं प्रभवेत्पुंसां वैराग्यादि चतुष्टयम् ॥
नित्यमात्म स्वरूपं हि दृश्यं तद्विपरीतगम् ।
एवं यो निश्चयः सम्यग्विवेको वस्तुनः स वै ॥

अपने वर्णाश्रम के धर्म, चान्द्रायण आदि तप तथा उपासना द्वारा परमेश्वर को प्रसन्न करने से पुरुषों को वैराग्यादि साधन-चतुष्टय की प्राप्ति होती है। आत्मा का स्वरूप नित्य है और इससे अतिरिक्त जो कुछ दृश्य है, वह इससे विपरीत (अनित्य) है, ऐसा जो दृढ़ निश्चय है, वही आत्म वस्तु का विवेक है।

आत्मा की नित्यता:—

दोहा—परमानन्द समान सुख,

नहीं अहे कुछ आन।

प्राप्त करहिं ताते परम,

करि पुरुषार्थ सुजान॥ १२॥

दोहार्थ—परमानन्द (ब्रह्मानन्द) के समान दूसरा कोई भी सुख नहीं है; इसलिये चतुर पुरुष परम-पुरुषार्थ करके परमानन्द को ही प्राप्त करते हैं॥ १२॥ भाव यह कि और सब पदार्थ जड़ होने से अनित्य हैं; अतः उन पदार्थों से उत्पन्न हुआ सुख भी अनित्य है और आत्मा नित्य है, अतः आत्म-सुख नित्य सुख है; इसलिये आनन्द के साथ 'परम' विशेषण लगाया गया है। परम का अर्थ होता है परे अर्थात् अनित्य सुख से परे आत्म सुख (आनन्द) नित्य है।

अनात्मा (प्रपंच) की अनित्यता—

दोहा—शशाशृंग वन्ध्यासुवन,

मांड़वार जिमि तोय।

गगन बार्न तिहुं काल तिमि,

जगत सत्य नहिं होय॥ १३॥

यथा स्वप्न की बात सब,
जागृत पै न दिखात।
जागृत ही में स्वप्नसी,
जागृत बीती बात ॥ १४ ॥
अछत देह का दृश्य सब,
नाश देह के पात।
ज्ञान भये पर जगत यह,
तथा झूठ दरशात ॥ १५ ॥

जैसे खरगोश की सिंग, बांझ (स्त्री) का पुत्र, मरुस्थल में जल और आकाश में बगीचा (भूत भविष्य और वर्तमान) तीनों काल में (नहीं हो सकते), वैसे ही जगत (तीनों काल में) सत्य नहीं है ॥ १३ ॥ जैसे स्वप्न की सम्पूर्ण बातें (दृश्य) जागने पर दिखलाई नहीं देती हैं और जाग्रत ही अवस्था में बीती हुई बातें स्वप्न के तुल्य हो जाती हैं ॥ १४ ॥ जैसे शरीर के वर्तमान रहते हुए का सम्पूर्ण दृश्य शरीर के पात हो जाने पर नष्ट (मिथ्या) हो जाता है, वैसे ही ज्ञान के हो जाने पर यह जगत मिथ्या दिखलायी देने लगता है ॥ १५ ॥

वैराग्य—

दोहा—सो मूरख सुख हेतु जो,
करत विषय की आस।

यथा तृषित नर ओस कण,
चाटि बुझावे प्यास ॥ १६ ॥
कस्तूरी मृगनाभि महँ,
ढूँढ़त फिरे तमाम ।
तिमि ढूँढ़त जग अज्ञ नर,
पावत नहिं विश्राम ॥ १७ ॥

दोहार्थ—जो (मनुष्य) सुख के लिये विषयों की आशा करता है वह मूर्ख है; (उसकी आशा कैसी है ?)जैसे प्यासा मनुष्य ओस की कण (बुन्द) चाटकर (अपनी) प्यास निवृत करना चाहता हो ॥ १६ ॥ कस्तूरी मृगा की नाभी में होती है, (परन्तु उसको न समझकर) वह तमाम (जंगल-में) ढूंढ़ता फिरता है; वैसे ही अज्ञानी पुरुष (सुख के लिये) संसार में भटकते फिरते हैं, [परन्तु] विश्राम नहीं पाते हैं ॥ १७ ॥

दोहा-जाको देखत ललित तुम,सो सेमर का फूल ।
बड़ो नेह से सेइया, आखिर निकला तूल ॥१८॥

दोहार्थ—हे मनुष्यो ! जिसको तुम सुन्दर देखते हो, वह [विषय] सेमर के फूल के समान है । [किसी पक्षी ने सेमर-के फूलों को सुन्दर देखकर फल के लोभ से] अधिक प्रेम से

सेवन किया, [परन्तु जब फल लगा और चोंच मारा, तो) रुआ उड़ने लगा; [तब पछताने लगा] वैसे ही हे मनुष्यों! तुम भी विषय-सेवन करोगे, तो परिणाम में दुःख ही होगा और पछताओगे ॥ १८ ॥

दोहा—चंचलता अति अल्प बल,
　　अज्ञ बाल बहु कष्ट ।
　　यौवन-ज्वर-मद त्रिविध दुख,
　　युवा भयो मति भ्रष्ट ॥ १९ ॥

दोहार्थ—अत्यन्त चपलता, थोड़ा बल और अज्ञानी होने के कारण बाल्यावस्था अत्यन्त दुःखदायी है तथा युवा अवस्था में यौवन [काम की प्रबलता] अभिमान और तीन प्रकार के दुःख [दैहिक, दैविक और भौतिक] से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है अर्थात् युवा अवस्था में कार्याकार्य का विचार न करके मन माना करने लगता है, उसका फल दुःख ही होता है ॥ १९ ॥

दोहा—शिथिल भयी सब इन्द्रियां,
　　मोह शोक बलवान ।
　　बहुत कष्ट वृद्धापने,
　　स्वानहु ते अपमान ॥ २० ॥

दोहार्थ—सभी इन्द्रियां निर्बल हो जाती हैं। शोक और बढ़ते ही जाते हैं तथा [कुटुम्बी] कुत्ता से भी अधिक निरादर करते हैं। अहो ! वृद्धावस्था में अत्यन्त कष्ट है ॥ २० ॥

दोहा—उतपति जाकी कष्ट से,
शोक होत जेहि भ्रष्ट
रक्षा में दुख, काल तिहुं,
देति चंचला कष्ट ॥ २१ ॥

दोहार्थ—उत्पन्न करने में कष्ट, रक्षा करने में कष्ट तथा नाश होने पर भी शोक ही होता है। लक्ष्मी [धन] तीनों काल में अर्थात् उत्पन्न करने में, रक्षा करने में और नाश होने में भी दुःख ही देने वाली है ॥ २१ ॥

दोहा—इन्द्रासनहू दुखद अति,
व्यर्थ अमर कहलात।
विधि के वासर एक में,
चौदह इन्द्र नशात ॥ २२ ॥

दोहार्थ—स्वर्ग भी अत्यन्त दुख को देने वाला है और वह व्यर्थही अमर कहलाता है, क्योंकि ब्रह्मा के एक दिन में चौदह इन्द्र मृत्यु को प्राप्त होते हैं ॥ २२ ॥

दोहा—सम से कलह ऊँचन्ह से,
डाह निचन्हे मान।
क्षीण पुण्य पुनि जनमता,
मृत्यु लोक में आन ॥ २३ ॥

दोहार्थ—(स्वर्ग में) बराबर दर्जे वालों से झगड़ा तथा ऊंचे वालों से डाह होना रहता है [कि अमुक व्यक्ति हमसे ऊंचा रहकर अधिक सुख भोगता है] और नीचे वालों से अभिमान होता है (कि हम श्रेष्ठ हैं) । (स्वर्ग में एक और भी अवगुण है कि) पुण्य के चुक जाने पर मृत्यु लोक में आकर फिर जन्म लेना पड़ता है ॥ २३ ॥

जैसे भगवान् ने कहा है:—

क्षीणे पुण्ये मर्त्य लोके विशन्ति।

बहुत से लोग कहा करते हैं कि भाई ! कहीं भी दूसरी जगह स्वर्ग-नर्कादि नहीं हैं, बल्कि यहां पर (मृत्यु लोक में) ही जो सुखोपभोग के साधन स्त्री, पुत्रादि हैं, वे स्वर्ग और दुःख के साधन जो कारागार, रोगादि हैं; वे नर्क हैं, सो ठीक नहीं है; क्योंकि यद्यपि यहां के भी सुखी प्राणी स्वर्गीय एवं दुःखी नारकी कहे जा सकते हैं, परन्तु जैसे दृष्ट चन्द्रलोक, सूर्यलोक, इत्यादि हैं, वैसे ही अदृश्य स्वर्गलोक, ब्रह्मलोक, नर्कादि भी हैं, जैसे श्री मद्भगवद्गीता में कहा है:—

तेतं भुक्त्वा स्वर्ग लोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्य लोके विशन्ति"। आब्रह्म भुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन॥ "अनेक चित्त विभ्रांता मोह-जाला समावृताः। प्रसक्ताः काम भोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ॥ अर्थात् 'वे सकाम यज्ञादि करने वाले पुरुष उस विशाल स्वर्ग लोक के सुख को भोग कर के पुण्य के क्षीण हो जाने पर फिर मृत्यु लोक में गिर पड़ते हैं'। हे अर्जुन! पृथ्वीलोक से ब्रह्मलोक पर्यन्त सभी लोक पुनरावर्त्ति हैं अर्थात् इनमें प्राणी सर्वदा स्थिर नहीं रहते। "जो मोह जाल से जकड़े हुए तथा अनेक वासनाओं से ग्रसित होकर भ्रान्त चित्त वाले और कामोपभोग में विशेष आसक्त हैं, वे अपवित्र नर्क में गिर पड़ते हैं।" इस रीति से स्वर्ग, नर्कादि लोक इस मृत्यु लोक के अतिरिक्त और जगह भी सिद्ध होते हैं। इन लोकों का वर्णन श्रुतियों में भी पाया जाता है; अतएव श्रुतिशास्त्र के मानने वाले आस्तिकों के लिये इन लोकों की स्वतन्त्रता अवश्य माननीय है, क्योंकि जो विषय हम नहीं देख सकते, उसके लिये हमारे श्रुति-शास्त्र ही प्रमाण हैं। जहां वैकुण्ठ, कैलाश, साकेत, गोलोकादि वर्णित हैं, वहां उनका ब्रह्मलोक से तात्पर्य है, क्योंकि ये लोक उपासना के फल हैं और उपासना से श्रुति में ब्रह्मलोक की ही प्राप्ति कही गयी है, इस विषय को मैंने इसी ग्रन्थ की (प्रथमाऽञ्जलि) में सविस्तार कहा है।

परन्तु निर्गुण उपासक के लिये तो श्रुति में इन लोकों का स्वरूप विशुद्ध ब्रह्म को ही कहा है, क्योंकि उस की दृष्टि में एक ब्रह्म के सिवा अज्ञान और अज्ञान-जनित [मृत्यु लोक से लेकर ब्रह्म लोक पर्यन्त] कोई भी लोक नहीं रह जाते।

दोहा—विश्व बनावन हार विधि,
　　काल पाइ मिटि जात।
　　छिति कुवेर रवि चन्द्र युत,
　　कौन विश्व की बात ? ॥ २४ ॥

दोहार्थ—समय पाकर ब्रह्माण्ड के रचयिता ब्रह्मा भी नाश को प्राप्त होते हैं, तो फिर पृथ्वी, कुवेर, सूर्य और चन्द्रादि के सहित ब्रह्माण्ड की वात ही क्या है ? ॥ २४ ॥

मनुस्मृति के दूसरे अध्याय में ब्रह्मा का दिन मान इस प्रकार वर्णित है:—छः मास जो उत्तरायण सूर्य रहते हैं, वह देवताओं का एक दिन और जो छः मास दक्षिणायन रहते हैं, वह उनकी एक रात्रि है; इस हिसाब से मनुष्यों का एक वर्ष देवताओं के एक दिन-रात के वरावर होता है, और जब देवताओं के तीस दिन अर्थात् उनका एक महीना होता है, तो मनुष्यों के तीस वर्ष होते हैं; तथा जब देवताओं के बारह महीने अर्थात् उनका एक वर्ष होता है तो मनुष्यों के तीन सौ साठ (३६०) वर्ष होते हैं। देवताओं के वर्ष से चार हजार

आठ सौ [४८००] वर्ष का सतयुग होता है, उसमें मनुष्यों के सत्रह लाख अठ्ठाइस हजार [१७२८०००] वर्ष होते हैं; और [३६००] तीन हजार छः सौ का त्रेता होता है; वह मनुष्यों के बारह लाख छानवें हजार [१२९६०००] वर्ष के बराबर होता है; तथा दो हजार चार सौ [२४००] वर्ष का द्वापर होता है; उसमें मनुष्यों के आठ लाख चौसठ हजार वर्ष [८६४०००] होते हैं, और एक हजार दो सौ [१२००] वर्ष का कलयुग होता है; उसमें मनुष्यों के चार लाख बत्तीस हजार [४३२०००] वर्ष होते हैं। चारों युगों की संख्या मिलाकर देवताओं के वर्ष से बारह हजार [१२०००] वर्ष की हो गयी और मनुष्यों की तैंतालीस लाख बीस हजार [४३२००००] वर्ष की। इसी बारह हजार वर्षों का देवताओं का एक युग होता है; यह देवयुग मनुष्यों का महायुग कहलाता है; और इसी युग से हजार युग का ब्रह्मा का एक दिन होता है, उसको कल्प भी कहते हैं, जैसे गीता में कहा है:—

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः।
रात्रिं युगसहस्रां तां तेऽहोरात्रविदो जनाः॥८॥

वे दिन और रात्रि के जानने वाले [देवताओं के युग से] हजार युग का ब्रह्मा का एक दिन और उसी हजार युग की ब्रह्मा की एक रात्रि जानते हैं। (८।१७)

पूर्वोक्त प्रकार से ब्रह्मा के एक दिन में मनुष्यों के चार अरब बत्तीस करोड़ [४३२०००००००] वर्ष व्यतीत हो जाते हैं अर्थात् मनुष्यों के चार अरब बत्तीस करोड़ का ब्रह्मा का एक दिन होता है और इसी दिन के समान रात्रि भी होती है, इसीदिन-रात से तीस दिन का महीना और बारह महीने का वर्ष होता है, और इसी वर्ष से सौ वर्ष की ब्रह्मा की आयु होती है।

पूर्व प्रसंग में कहे हुए युगों के विषय में यह समझना चाहिये कि जब एक युग के बाद दूसरे युग का आगमन होता है, तो कुछ समय तक प्रत्यक्ष रूप में कोई भी युग नहीं रहता अर्थात् किसी भी युग का नाम नहीं रहता है, उस समय को सन्धि-काल कहते हैं। जैसे दिन के समाप्त हो जाने पर जब रात आने लगती है, तो कुछ काल तक ऐसा समय रहता है कि उसको न तो दिन कहा जाता है और न रात, उसी प्रकार से देवताओं के वर्ष से चार हजार [४०००] वर्ष का सतयुग, तीन हजार [३०००] वर्ष का त्रेता, दो हजार [२०००] वर्ष का द्वापर और एक हजार [१०००] वर्ष का कलियुग होता है; तथा आठ सौ [८००] छः सौ [६००] चार सौ [४००] और दो सौ [२००] वर्ष, जो क्रमशः सतयुग, त्रेता, द्वापर तथा कलियुग की पूर्वोक्त संख्याओं में जोड़े गये हैं, उन्हें सन्धि-काल समझना चाहिए। इसी रीति से कलियुग में जो दो सौ वर्ष की सन्धि है, उसमें से, कलियुग

के सौ ही वर्ष समझने चाहिए, बाकी और युगों के।

इस हिसाब से कलियुग देवताओं के वर्ष से एक हजार एक सौ (११००) वर्ष का हुआ, इसमें मनुष्यों के तीन लाख छानवे हज़ार [३९६०००] वर्ष हुए, इन मानव वर्षों में से आज सम्वत् १९९३ शाके १८५८ में कलियुग के ठीक पांच हज़ार सैंतीस [५०३७] वर्ष बीत चुके और तीन लाख नव्वे हज़ार नव सौ तीरसठ [३९०९६३] वर्ष शेष हैं।

यदि उपर्युक्त दो सौ वर्षों की सन्धि कलियुग की ही मान ली जाय तब तो देवताओं के वर्ष से कलयुग-एक हजार दो सौ [१२००] वर्ष का होता है, यह मनुष्यों के चार लाख बत्तीस हजार [४३२०००] वर्ष के समान है, इसमें से पांच हजार सैंतीस [५०३७] वर्ष बीत गये, अब चार लाख छब्बीस हजार नव सौ तीरसठ [४२६९६३] वर्ष कलियुग के शेष हैं।

देवताओं के युग [मनुष्यों के महायुग] से एक हजार युगों का एक मनवन्तर होता है; यह मन्वन्तर एक इन्द्र की आयु है; और चौदह मनोवन्तरों का एक कल्प होता है; इसी कल्प को ब्रह्मा का दिन कहते हैं। इस प्रकार से ब्रह्मा के एक दिन में चौदह इन्द्र बदल जाते हैं अर्थात् नष्ट हो जाते हैं। जिस प्रकार युग परिवर्तन होने में सन्धिकाल होता है उसी प्रकार मनवन्तरों के परिवर्त्तन में भी कुछ काल सन्धिकाल रहा है।

पूर्वविवेचन से जब ब्रह्मदेव के भी स्थिति-काल की सीमा हो चुकी, तो उनका रचा हुआ चारि खानि [अण्डज पिण्डज, उष्मज, स्थावर] मय ब्रह्माण्ड की कौन गिनती है? अतः सांसारिक पदार्थों से वैराग्य करना ही उचित है। नश्वर पदार्थों की प्राप्ति से शाश्वत सुख की आशा नहीं पायी जाती है, आत्यन्तिक सुख तो सत्य वस्तु से ही होता है, इसलिये दुःख की अत्यन्त निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति के लिये शिष्य-वृत्ति को धारण करके सद्गुरु के शरण जाना चाहिये।

शिष्य लक्षण—

दोहा—गुरु सेवा अभ्यास रत,
निरालस्य निहि काम।
रहित असूया राग शिष,
जीतेंद्रिय गुणधाम ॥ २६

दोहार्थ—शिष्य असूया [निन्दा] तथा राग से रहित, इन्द्रियजीत, गुण का धाम, गुरु की सेवा और अभ्यास में लीन तथा आलस्य एवं कामनाओं से रहित हो ॥ २६ ॥

भावार्थः—इस दोहे में जो राग रहित कहा गया, सो वैराग्य रूपी दूसरा साधन का सूचक है और वह वैराग्य विवेक का उपलक्षक है, क्योंकि बिना विवेक के वैराग्य नहीं

होता। निष्काम से 'शम' समझना चाहिये, क्योंकि कामना हीन पुरुष का मन विषयों में प्रवृत्त नहीं होता है, जितेन्द्रिय से 'दम' समझना चाहिये और गुरु-सेवा से 'उपरामता' समझनी चाहिये, क्योंकि चित-वृत्ति को यज्ञादि कर्मों से तथा स्त्री आदि विषयों से निरोध करके उसने केवल श्रीगुरु की सेवा में लगायी है। निरालस्य से 'तितिक्षा' समझनी चाहिये, क्योंकि शीत-उष्ण, दुःख-सुख, मान-अपमानादि द्वन्द्वों के सहने में आलस्य नहीं करता है अर्थात् अपने लक्ष्य प्राप्ति के लिए वह सब कष्ट सहता है। असूया रहित से 'श्रद्धा' समझनी चाहिये, क्योंकि वह शिष्य गुरु की असूया [निन्दा अर्थात उनमें दोषारोपण] नहीं करता है, इससे सिद्ध होता है कि गुरु तथा गुरु के वेदान्तानुकूल वाक्यों में विश्वास है। क्योंकि कहा है:-

> यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
> तस्यैते कथिता ह्यार्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥

'जिसकी परमात्मा में परम भक्ति है और जैसी भक्ति परमात्मा में है, वैसी ही गुरु में है, उस महात्मा अधिकारी के हृदय में ही उपदेश की हुई ब्रह्म विद्या प्रकाश करती है' और जो अभ्यास-रत कहा है, इससे 'समाधान' समझना चाहिये, क्योंकि चित्त को चारों ओर से हटा कर अपने लक्ष्य का ही अभ्यास करने को समाधान कहते हैं, और गुणधाम से

मुमुक्षुता समझनी चाहिये, क्योंकि मोक्ष [बन्धन से छूटने] की इच्छा को मुमुक्षुता कहते हैं, और जिसको इसकी इच्छा होती है, वह मुमुक्षु कहलाता है, यह मुमुक्षुता बड़ा भारी गुण है तथा इसी को चौथा साधन भी कहते हैं। उस मुमुक्षु शिष्य के हृदय में यह मुमुक्षुतारूपी गुण उत्पन्न होता है, अतः उसको गुणधाम कहा गया।

पूर्वोक्त प्रकार से यह सिद्ध हो गया कि जब कर्म और उपासना के परिपाक हो जाने पर शिष्य के हृदय में विवेक, वैराग, शम, दमादि षट सम्पत्ति और मुमुक्षुता, ये चार साधन क्रमशः प्राप्त हो जाते हैं, तब वह सद्गुरु के शरण जाकर वेदान्त तत्व के श्रवण का अधिकारी होता है, अन्यथा नहीं। ज्ञान की सात भूमिकाएं होती हैं, जैसे-शुभेच्छा, सुविचार, तनुमानसा, असत्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थाभावनी और तुरिया। परमार्थ से कोई भूमिका नहीं है, परन्तु जिज्ञासुओं के बोध के लिये ये चित्त वृत्ति की भूमिकाएं कही गयी हैं, जिस समय जैसी चित्तवृत्ति होती है, तदनुरूप नाम रक्खा गया है। विवेकादि चार साधनों के प्राप्त हो जाने पर ज्ञान की सात भूमिकाओं में से पहली शुभेच्छा नाम की भूमिका प्राप्त हो जाती है। चार साधनों को मैंने 'आत्म प्रकाश' के 'साधनचतुष्टय' नामक दूसरे परिच्छेद में सविस्तार वर्णन किया है। अब यह बतलाते हैं कि सद्गुरु कैसा होना चाहिये:—

सद्गुरु–लक्षणः—

दोहा— गुरु निर्मल आरोग्य तन,
मितभाषी चित शान्त'
ब्रह्मनिष्ठ शम दम सहित,
ज्ञाता शास्त्र-सिधान्त ॥ २७ ॥

दोहार्थ—गुरु निर्मल (विकार रहित), शरीर से निरोग, मधुर बोलने वाला, शान्त चित्त से युक्त, शम [अन्तः करण-के निरोध] और दम [इन्द्रिय–निग्रह] के सहित ब्रह्मनिष्ठ तथा शास्त्र सिद्धान्त का ज्ञाता हो ॥ २७ ॥

श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ, इन दो विशेषणों का मतलब इस प्रकार करने योग्य है:—जो शास्त्रों के परस्पर विरुद्ध सिद्धान्तों को दूर करके उन्हें एक ही अद्वितीय ब्रह्म में जोड़े अर्थात् सबका तात्पर्य एक ही अद्वितीय ब्रह्म में समझे, उसे श्रोत्रिय, और जिसने साधन सम्पन्न होकर ब्रह्म का साक्षात्कार करके उसमें अभेद भाव से अपनी निष्ठा को लगा रक्खी है, उसे ब्रह्मनिष्ठ कहते हैं। जैसे किसी नदी के उस पार के लिये अन्धा मनुष्य न तो मार्ग बतला सकता है और न उसके बताने पर विश्वास ही होगा, क्योंकि वह स्वयं नहीं देखता है; और पैरों से लंगड़ा मनुष्य भी नहीं बतला सकता कि नदी–पार जाने के लिये उस ओर थोड़ा जल [कम गहराई] है, तथा

उसके कहने पर विश्वास भी नहीं होगा; क्योंकि वह उस पार का तट देखता तो है, परन्तु पैर हीन होने के कारण नदी की गहराई को नहीं जान सकता। वैसे ही जो ब्रह्मनिष्ठ नहीं हैं अर्थात् ब्रह्म-दर्शन रूपी नेत्र से हीन है, वह ब्रह्म के यथार्थ स्वरूप का उपदेश नहीं कर सकता और उसके उपदेश पर विश्वास भी नहीं होगा, क्योंकि उसकी वाणी का प्रभाव ही नहीं पड़ेगा; और जो ब्रह्म-निष्ठ तो है, परन्तु श्रोत्रिय नहीं है, वह आचार्य पैर हीन मनुष्य के समान है, वह शिष्य के तर्कों को दूर करके समाधान नहीं कर सकता। हां, यदि अति तर्क से रहित तथा संसयहीन एवं वचनों में विश्वास रखने वाला उत्तम जिज्ञासु मिल जाय, तब तो बोध करा सकता है; परन्तु स्वल्प संसय वाले, मध्यम अधिकारी तथा अति संसय से युक्त कनिष्ठ जिज्ञासु को बोध कभी नहीं करा सकता, क्योंकि बोध कराने के लिये दृष्टान्त, प्रमाण, युक्ति, आदि अनेक उपायों की आवश्यकता होती है; उसको श्रोत्रिय के विना दूसरा नहीं जान सकता। इसलिये—श्रोत्रिय तथा ब्रह्मनिष्ठ, इन दो विशेषणों से युक्त जो अचार्य है, वही गुरु के योग्य है। जो जीव और ब्रह्म में थोड़ा भी भेद—भाव सिद्ध करता है, वह कितना हूँ विद्वान क्यों न हो, परन्तु गुरु के योग्य नहीं है, क्योंकि उससे शिष्य को परमानन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती, जैसे श्री स्वामी शंकराचार्य ने कहा है:—

स्वल्पमप्यन्तरं कृत्वा जीवात्मापरमात्मनोः ।
यः संतिष्ठति मूढात्मा भयं तस्याभिभाषितम् ॥

'अर्थात् जो मूर्ख जीवात्मा तथा परमात्मा में थोड़ा भी अन्तर करके स्थित होता है, उसके लिये श्रुति भय का कथन करती है।' यथा:-'द्वितीयाद्वै भयं भवति' 'दूसरे से अवश्य भय होता है।' अब गुरु-शरणागत की रीति कहते हैं:—

गुरु शरणागत की रीतिः—

दोहा— पूर्व कथित गुरु के शरण,
शिष्य स्वलक्षण युक्त ।
लेकर समिधा पुनि करे,
गमन हेतु निज मुक्त ॥ २८ ॥

गुरु ढिंग प्रथम प्रणाम करि,
करै प्रश्न मित बैन ।
हे कृपालु भगवन गुरो !
तुम महं अवगुण है न ॥ २९ ॥

क्या माया क्या जीव है,
ईश कहावत कौन ?
कहिये जो है मुक्ति की,
युक्ति हमारी तौन ॥ ३० ॥

दोहार्थ—शिष्य अपने लक्षण से युक्त हुआ हाथ में समिधा (हवन करने की लकड़ी अथवा कुछ भेंट) लेकर अपने को मुक्त करने के लिये अर्थात् माया से छुटकारा पाने के लिये पूर्व कहे हुए लक्षण से युक्त गुरु के शरण में जाय ॥ २८ ॥ श्रुति भी कहती है:—**तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्स-मित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥** 'उस ब्रह्मतत्व को जानने के लिये हाथ में कुछ भेंट लेकर श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाय।' गुरु के पास (जाकर) पहले प्रणाम करे, [तब] कोमल वाणी से प्रश्न करे कि हे भगवान्, कृपालु गुरो! आप में अवगुण नहीं हैं अर्थात् आप निष्पाप हैं ॥ २९ ॥ प्रणाम की विधि यह है:—**उरसा शिरसा दृष्ट्या वचसा मनसा तथा। कराभ्यां पदाभ्यां जानुभ्यां प्रणामो ऽष्टांग उच्चयेत ॥** 'उरसे, शिर से, दृष्टि से, वाणी से, मनसे, हाथों से, चरणों से और घुटनों [ठेहुनों] से प्रणाम करना अष्टांग प्रणाम कहलाता है।'

प्रश्न करने की रीतिः—

माया क्या है, जीव क्या है, और ईश्वर किसको कहते हैं? तथा हमारी मुक्ति का जो उपाय हो, वह कहिये ॥ ३० ॥

उपदेश की रीतिः—

दोहा—तब करि कृपा कृपालु गुरु,
करे ज्ञान उपदेश।
बोध हृदय भ्रम सब मिटे,
जन्म-मरण का क्लेश ॥ ३१ ॥

दोहार्थ—तब कृपालु गुरु कृपा करके ज्ञान का उपदेश करे, जिससे हृदय में बोध हो और जन्म-मरणरूपी दुःख तथा सब भ्रम मिट जांय ॥ ३१ ॥ यहां यह रहस्य है:—जो वह जिज्ञासु शिष्य ब्राह्मण शरीर का हो, तो वह श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य उसकी इच्छा से विविदिषा सन्यास देकर वेदान्त शास्त्र का उपदेश दे, और जो ब्राह्मण शरीर से भिन्न शरीर का हो तो विना सन्यास दिये ही उपदेश करे, क्योंकि विविदिष्या सन्यास का अधिकारी ब्राह्मण ही है, जैसे श्रुतिः—

तमतं वेदानुशासनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन। 'ब्राह्मण वेद की आज्ञा से यज्ञ, दान तथा अनाशक तप के द्वारा उस ब्रह्म को जानने की

इच्छा करते हैं। अनाशक तप वह है, जिससे शरीर न छूटे, जैसे चान्द्रायणादि, और जिस तप से शरीर छूट जाता है, वह अनशन तप कहलाता है।

पूर्व श्रुति में कहे हुए यज्ञ से ब्रह्मचारी का सम्पूर्ण धर्म, दान से गृहस्थ का समस्त धर्म तथा तपसे वानप्रस्थी का सब धर्म समझना चाहिये। अब विविदिषा सन्यास का वर्णन करते हैं:—

विविदिषा सन्यासः—

जो बहिरंग साधन यज्ञादि तथा अन्तरङ्ग साधन-चतुष्टय से सम्पन्न हो कर आत्मा का ब्रह्म से अभेद भाव से साक्षात्-कार करने के हेतु वेदान्त-सिद्धान्त को श्रवण करने के लिये दण्ड कमण्डलु आदि चिन्हों के सहित विधिवत सन्यास लिया जाता है वह विविदिषा सन्यास कहलाता है। विवि-दिषा सन्यासी के लिये शास्त्र में कहा है:—

कौपीनं युगलं वासः कन्थाशीत निवारिणी।
पादुका चापि गृह्णियात् कुर्यान्नान्यस्य संग्रहम् ॥

'दो कोपीन (लंगोटी), दो कटि वस्त्र, शीत निवारण के लिये कन्था (कम्बल आदि) और पादुका (खड़ाऊं) भी ग्रहण करे, इसके अतिरिक्त और पदार्थों का संग्रह न करे।' उसके लिये श्रति मे पांच प्रकार की भिक्षा कही गयी है:—

माधुकरमसंक्लृप्तं प्राक्प्रणीतमयाचितम् ।
तात्कालिकोपपन्नं च भैक्ष्यं पंचविधंस्मृतम् ॥

'माधुकर, प्राक्प्रणीत,अयाचित, तात्कालिक और उपपन्न यह पांच प्रकार की भिक्षा समझी गयी है। 'मैं भिक्षा के लिये अमुक ग्राम अथवा अमुक टोला में या अमुक व्यक्ति के यहां जाऊंगा, इस प्रकार का मनमें सङ्कल्पन करके वस्ती में भिक्षा के लिये जाकर मधुकर (भ्रमर) के सदृश तीन, पांच या सात घर से थोड़ा-थोड़ा भोजन ले लिया जाय उसे माधुकर; कोई भक्त भिक्षा-काल से पहले प्रातःकाल प्रार्थना कर जाय कि हे भगवन्! हमारे यहां भिक्षा करके इस दास को कृतार्थ करिये। उस प्राक्प्रणीत बिना याचना के ही कोई श्रद्धालु निमन्त्रित कर जाय, कि हे स्वामिन्! कल भिक्षा करके इस दास को कृतार्थ करें, उस अयाचित; भिक्षा के लिए वस्ती में जाने का विचार कर रहे हैं, अथवा चल दिये हैं या पहुंच गये हैं, उसी समय (विना मांगे हुए ही) कोई लाकर देदे, तो उसे तात्कालिक, और विना निमन्त्रण दिये ही सहसा कोई भक्त आसन पर लाकर रख दे, तो उसे उपपन्न भिक्षा कहते हैं।' और भी कहा है, स्मृति—

न चोत्पातनिमित्ताभ्यां न नक्षत्राङ्गविद्यया ।
नानुशासनवादाभ्यां भैक्ष्यं लिप्सेत्कर्हिचित् ॥

'यति, अतिवृष्टि, अनावृष्टि, भूकम्प आदि उतपात के कथन द्वारा, नेत्रादि फड़कने के फल के कथन से, नक्षत्र ग्रहादि के शुभाशुभ फल बतला कर, सामुद्रिक विद्या के द्वारा (हस्त रेखादि देखना), शास्त्र के द्वारा (नीति सिखाना) और शास्त्रार्थ करके भिक्षा (जीविका वृत्ति) न करे।'

विविदिषा सन्यासी पूर्वोक्त आचरणों से युक्त होकर भिक्षा से निर्वाह करता हुआ यति-सन्ध्या, तर्पण, दण्ड-स्नान, प्रणव-जप इत्यादि नियमों को करता हुआ श्रवण-मनन में तत्पर रहे, क्योंकि श्रवण करना उसके लिए नित्य-कर्म है, इसलिये उसे न करने से पाप होता है, जैसे श्रुति में कहा गया है:-

त्वं पदार्थविवेकाय सन्यसेत्सर्वकर्मणाम् ।
श्रुत्वाऽविधीयते यस्मात्त्यागी पतितो भवेत् ॥

जो त्वं पदार्थ प्रत्यक् आत्मा (अपना शुद्ध स्वरूप) को जानने के लिए सम्पूर्ण वहिरङ्ग कर्मों का त्याग करदे, और फिर श्रवण करना भी छोड़ दे, तो वह त्यागी (सन्यासी) पतित हो जाता है।

विविदिषा सन्यास भी कुटीचक, बहुदक, हंस और परमहंस, इस भेद से चार प्रकार का होता है, जैसे वैष्णव धर्म शास्त्र विष्णु-स्मृति के चौथे अध्याय के ग्यारहवें तथा

वारहवें श्लोक में कहा है:-चतुर्विधा भिक्षुकाः स्युः कुटीचक बहूदकौ ॥ ११ ॥ हंसः परमहंसश्च पश्चाद्यो यःस उत्तमः। 'सन्यासी चार प्रकार के होते हैं, जैसे:-कुटीचक, वहूदक, हंस और परमहंस, इनमें जिससे जो पीछे है उससे वह उत्तम है'।

जो धन का नाश का हो जाना, अथवा पुत्र का मर जाना इत्यादि कारणों से शोक के वश होकर 'धिक्कार है इस जीवन को, इस प्रकार का धिक्कार देता हुआ स्वर्गादि लोकों से वैराग्य न करके केवल घर से ही वैराग्य कर देता है और विधि पूर्वक एक दण्ड या त्रिदण्ड को धारण कर शिखा तथा सूत्र को रखता हुआ अपनी सम्प्रदायानुसार ललाट पर उर्द्धपुण्ड अथवा त्रिपुण्ड को लगाकर के कर्म और उपासना में तत्पर रहकर वेदान्त शास्त्र का श्रवणादि करता है, तथा अत्यन्त वृद्ध होने के कारण उसे भ्रमण करने की शक्ति नहीं रहती है, इसलिए वह कहीं भ्रमण नहीं करता, वल्कि अपने ग्राम से वाहर पर्णकुटी वनाकर उसमें निवास करता है और शरीर निर्वाह के लिये अपने पुत्रादि [परिवार] से ही एक वार मध्यान्ह कालमें भिक्षा लेता है, वह कुटीचक कहलाता है। जैसे श्रुति (सन्यासोपनिषद) में कहा है:—

कुटीचकः शिखायज्ञोपविती दण्ड कमण्डलुधरः कौपीन शाटी कन्था धरः पितृ मातृ गुर्वाराधनपरः

पिडखनित्र शिक्यादि मात्र साधनपरः एकत्रा-
न्नादनपरः श्वेतोर्ध्वपुण्ड्रधारी त्रिदण्डः ॥ और
विष्णु स्मृति के चौथे अध्याय में भी कहा है:--एकदण्डी
भवेद्वापि त्रिदण्डी चापि वाभवेत् ॥१२॥ त्यक्त्वा
सर्वसुखास्वादं पुत्रैश्वर्यसुखं त्यजेत् । अपत्येषु
वसेन्नित्यं ममत्वं यत्नतस्त्यजेत् ॥ १३ ॥ नान्य-
स्य गेहे भुञ्जीत भुञ्जानो दोषभाग्भवेत् । कामं क्रोधं
च लोभं च तथेर्ष्यां स्त्यैमेवच ॥ १४ ॥ कुटीचक-
स्त्यजेत्सर्वं पुत्रार्थं चैव सर्वतः । भिक्षाटनादिके-
ऽशक्तो यतिः पुत्रेषु सन्यसेत् ॥ १५ ॥ कुटीचक
इतिज्ञेयः परिव्राट् त्यक्तबांधवः ।

कुटीचक का जो नियम कहा गया है, वही बहूदक का भी समझना चाहिये, भेद इतना ही है कि कुटीचक एक ही जगह रह कर अपने परिवार से ही भिक्षा लेता है और बहूदक भ्रमण करता हुआ बहुत जगह भिक्षा करता है। जैसे वैष्णव शास्त्र विष्णु स्मृति के चौथे अध्याय में कहा है:—
त्रिदण्डं कुण्डिकां चैव भिक्षाधारं तथैव च ॥१६॥
सूत्रं तथैव गृह्णीयान्नित्यमेव बहूदकः ।

प्राणायामेऽप्यभिरतो गायत्रीं सततं जपेत् ॥ १७ ॥
विश्वरूपं हृदि ध्यायन्नयेत्कालं जितेन्द्रियः ।
ईषत्कृत कषायस्य लिङ्गमाश्रित्य तिष्ठतः ॥ १८ ॥
अन्नार्थं लिङ्गमुद्दिष्टं न मोक्षार्थमिति स्थितिः ।

'त्रिदण्ड, कमण्डलु, भिक्षा का पात्र और यज्ञोपवीत, इनको बहूदक नित्य ग्रहण करे; प्राणायाम में तत्पर रहे और निरन्तर गायत्री का जप करता रहे; हृदय में भगवान् का ध्यान करे; इन्द्रियों को जीत कर समय बिताता रहे; कुछ गेरुवा वस्त्रों को रंग कर एक चिन्ह [सन्यास की पहचान] बनाकर स्थित रहे, सन्यासी का चिन्ह अन्न के निमित्त कहा है; न कि मोक्ष के लिये, ऐसी मर्यादा है ।' श्रुति भी कहती है:-

बहूदकः शिखादि कन्थाधरस्त्रिपुण्ड्रधारी कुटीचकवत्सर्वसमो मधुकरवृत्त्याष्टकवलाशी । 'जो नियम बहुदक का है, वही हंस का समझना चाहिये; भेद इतना ही है कि यह एक दण्ड धारण करता है तथा शिखा न रखकर केवल सूत्र (जनेऊ) रखता है और श्रवणादि में तत्पर रहता है ।' जैसे वैष्णवशास्त्र विष्णु-स्मृति के चौथे अध्याय में कहा है:—

त्यक्त्वा पुत्रादिकं सर्वं योगमार्गं व्यवस्थितः ॥ १९ ॥
इन्द्रियाणि मनश्चैव कर्षन्हंसोऽभिधीयते ।

कृच्छ्रैश्चान्द्रायणैश्चैव तुलापुरुषसंज्ञकैः ॥ २० ॥
अन्यैश्च शोषयेद्देहमाकांक्षन्ब्रह्मणः परम् ।
यज्ञोपवीतं दण्डं च वस्त्रं जन्तुनिवारणम् ॥ २१ ॥
अयं परिग्रहो नान्यो हंसस्य श्रुति वेदिनः ।

'सम्पूर्ण पुत्रादिकों को त्याग करके जो योग मार्ग में स्थित रह कर मन को वस में करता है, उस सन्यासी को हंस कहते हैं; वह ब्रह्मपद की इच्छा करता हुआ सन्यासी कृच्छ्र चान्द्रायण, तुला पुरुष और अन्य व्रतों से अपने शरीर को सुखा दे; यज्ञोपवीत, दण्ड और जिससे मक्खी आदि जीव शरीर पर न गिरें ऐसा वस्त्र रक्खे; वेद के ज्ञाता हंस के लिये यही परिग्रह है; दूसरा नहीं ।' श्रुति ने कहा है:—

हंसो जटाधारी त्रिपुण्ड्रोर्ध्वपुण्ड्रधारी असंक्लृप्त माधूकरान्नाशी कौपीनखण्डतुण्डधारी । जो नियम हंस का है, वही नियम परमहंस का भी समझना चाहिये, भेद इतना ही है कि यह सूत्र भी नहीं रखता ।

परम हंस के विषय में वैष्णव धर्म शास्त्र विष्णु-स्मृति के चौथे अध्याय में इस प्रकार वर्णित है:—

आध्यात्मिकं ब्रह्म जपन्प्राणायामांस्तथा चरन् २२॥
वियुक्तः सर्वसंगेभ्यो योगी नित्यं चरेन्महीम् ।

आत्मनिष्ठः स्वयं युक्तस्त्यक्तसर्वपरिग्रहः ॥ २३ ॥
चतुर्थोऽयं महानेषां ध्यानभिक्षुरुदाहृतः ।
त्रिदण्डं कुण्डिकां चैव सूत्रं चाथ कपालिकाम् ॥२४॥
जन्तूनां वारणं वस्त्रं सर्वं भिक्षुरिदं त्यजेत् ।
कौपीनाच्छादनार्थं च वासोऽध्यश्च परिग्रहेत् ॥२५॥
कुर्यात्परमहंसस्तु दण्डमेकं च धारयेत् ।
आत्मन्येवात्मना बुद्ध्या परित्यक्त शुभाशुभः ॥२६॥
अव्यक्तलिङ्गोऽव्यक्तश्च चरेद्भिक्षुः समाहितः ।
प्राप्तपूजो न संतुष्येदलाभे त्यक्तमत्सरः ॥ २७ ॥
त्यक्त तृष्णः सदा विद्वान्मूकवत्पृथिवीं चरेत् ।
देह संरक्षणार्थं तु भिक्षामोहेद्द्विजातिषु ॥ २८ ॥
पात्रमस्य भवेत्पाणिस्तेन नित्य गृहानटेत् ।

'अपने आत्मा (देह) में व्यापक ब्रह्म को जपता तथा प्राणायामों को करता हुआ और सब संगो से रहित एवं आत्मा में स्थित तथा जिसने युक्त होकर गृहादि का त्याग कर दिया है, वह नित्य पृथ्वी पर विचरे; यह चौथा ध्यान भिक्षु (परमहंस) इन चारों (कुटीचक, बहूदक, हंस और परमहंस) में महान् (श्रेष्ठ) कहलाता है । यह भिक्षुक

त्रिदण्ड, कमण्डलु, यज्ञोपवीत, भिक्षा का पात्र और जन्तुओं के निवारण करने योग वस्त्र, इन सब का त्याग कर दे। वह परमहंस कौपीन, ओढ़ने का वस्त्र और एक दण्ड, इनको धारण करे तथा अपनी बुद्धि से शुभाशुभ कर्मों का त्याग करके रहे, अपने चिन्हों को छिपा कर और अप्रकट होकर सावधान हुआ विचरे, पूजा (बड़ाई) की प्राप्ति से प्रसन्न न हो और जो पूजा न हो तो क्रोध भी न करे, तृष्णा को त्याग कर गूंगे के समान मौन धारण करके पृथ्वी में विचरे और देह की ही रक्षा निमित्त भिक्षा को द्विजातियों (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य के घर) में मांगे, भिक्षुक का पात्र हाथ ही है, उसी से नित्य गृहों में विचरण करे अर्थात् भिक्षा मांगे।'

इन चार प्रकार के सन्यासियों में से हंस तीव्र वैराग्य वाला तथा परमहंस तीव्रतर वैराग्य वाला होता है, और बहूदक मन्द वैराग्य वाला तथा कुटीचक मन्दतर वैराग्य वाला होता है। जिसको मृत्युकाल में भयवशात् सहसा वैराग्य हो जाता है, और वह प्रेममन्त्र तथा महावाक्य बोल कर शिखा सूत्र अपने ही उतार कर फेंक देता है, उसे आतुर सन्यासी कहते हैं, यह भी विविदिषा सन्यासी के अन्तर्गत ही है। इस प्रकार का आतुर सन्यास दूसरे जन्म में चित्त शुद्धि का हेतु होता है।

पूर्वोक्त विविदिषा सन्यास में ब्राह्मण का ही अधिकार है। इस विषय में श्रुति कहती है:—

पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणा-याश्च व्युत्थाय । भिक्षाचर्यं चरन्ति ।

'वैराग्यवान् ब्राह्मण पुत्र की इच्छा, धन की इच्छा तथा लोक की इच्छा का परित्याग करके भिक्षा वृत्ति में विचरते हैं'। तथा स्मृति भीः—**चत्वार आश्रमा ब्राह्मणस्य त्रये राजन्यस्य द्वौ वैश्यस्य** । 'ब्राह्मण के लिये चार, क्षत्रीय के लिये तीन (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ) और वैश्य के लिये दोही (ब्रह्मचर्य और गृहस्थ) आश्रम हैं ।

विविदिषा सन्यासियों के लिये श्रुति ने इन लोकों की प्राप्ति कही है:—**आतुरकुटीचकयोर्भूर्लोकौ । बहूदकस्य स्वर्गलोकः । हंसस्य तपोलोकः । परमहंस सत्यलोकः** ॥ 'आतुर और कुटीचक के लिये पृथ्वी लोक तथा आकाश के लोक हैं, बहूदक के लिये स्वर्गलोक, हंस के लिये तपलोक और परमहंस के लिये सत्य (ब्रह्म) लोक है।

विद्वत् सन्यासः—

परन्तु विद्वत् संयासमें तो ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य आदि सबका अधिकार है, क्योंकि विद्वत् सन्यासी की दृष्टि में शरीर तथा शरीरों के धर्म कुल, जाति इत्यादि नहीं रहते । विद्वत् सन्यास उसको कहते हैं, जो सन्यास आश्रम से अन्य जो

तीन आश्रम हैं, उनमें ही दृढ़ वैराग्य होकर श्रवण, मनन, निदिध्यासन के द्वारा आत्मदेव का साक्षात्कार करके जीवन मुक्ति के सुख के लिये स्वयं शिखा-सूत्र उतार कर जगत में विचरा जाता है। विद्वत् सन्यासी के लिये दण्ड, कमण्डलु आदि चिन्हों की कुछ आवश्यकता नहीं रहती तथा उसके लिये शास्त्र जनित विधि और निषेध नहीं हैं। जैसे कहा है:-

न वेदा न लोका न सुरा न यज्ञा वर्णाश्रमौ नैव कुलं न जातिः। न धूममार्गो न च दीप्तिमार्गो ब्रह्मैकरूपं परमार्थतत्वम् ॥ १ ॥

'उसके लिये न वेदों की आज्ञा है (कि अमुक कर्म करो) न वर्णाश्रम हैं, (जब वर्णाश्रम नहीं हैं, तो उनके धर्म कहां हैं?), न उसका कुल है, न उसकी जाति है. उसके लिये न दक्षिणायनमार्ग है और न उत्तरायणमार्ग, क्योंकि उसकी दृष्टि में केवल एक ब्रह्मतत्त्व ही है ॥ १ ॥ स्वामी श्री शंकराचार्य जी ने कहा है:—निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधिः को निषेधः। अर्थात् 'त्रिगुण रहित मार्ग (ब्रह्म) में विचरने वालों के लिये क्या विधि और क्या निषेध है? अर्थात् कुछ नहीं है'। यह सन्यास ब्रह्म के जानने की इच्छा से नहीं किया जाता है, बल्कि जान कर किया जाता है, अतएव इसको 'विद्वत् सन्यास' कहते हैं।

विद्वत् सन्यासी के लिये पञ्चदशी में भी कहा है:—

वर्णाश्रमवयोऽवस्था यस्याभिमानं विद्यते । तस्यैव निषेधाश्च विधया सकला अपि ॥ 'जिसको वर्ण, आश्रम, शरीर और अवस्था का अभिमान है अर्थात् जो अपने को वर्णी, आश्रमी, अथवा शरीर या अवस्था वाला मानता है, उसके ही लिये शास्त्र की सम्पूर्ण विधियां [विहित कर्म] एवं निषेध [वर्जित] कार्य हैं ।' विद्वत् सन्यासी को तो किसी प्रकार का अभिमान ही नहीं है, अतः उस पर शास्त्र की आज्ञा नहीं है, वह पुरुष जीते-जी मर चुका है और मर कर भी अमर है, उसने परमात्मा से एकता करली है, उसकी महिमा सांसारिक प्राणी नहीं जान सकते, वल्कि उसी अवस्था में जाकर जानी जाती है जिसमें कि वह पहुँचा हुआ है । उस अवस्था में पहुँच कर अवस्थाहीन हो जाना पड़ता है तथा बिना बुद्धि के जाना जाता है, वहां मन का गम्य नहीं, वाणी की पहुँच नहीं, वह आनन्दस्वरूप होता हुआ भी सुखातीत है, वह पूर्ण है, अविचल है, अलख है, ब्रह्म है, अव्यक्त है, अनिर्देश्य है, अधिक क्या, वह कुछ नहीं है और जो कुछ है, सो वही है । श्री मच्छङ्कराचार्य ने उसके कुछ बाहरी लक्षणों का वर्णन 'विवेक चूणामणि' में इस प्रकार किया है:—

क्वचिन्मूढो विद्वान्क्वचिदपि महाराज विभवः

क्वचिद्भ्रान्तः सौम्यः क्वचिदजगराचारकलितः ।

क्वचित्पात्रीभूतः क्वचिदवमतः क्वाप्यविदित-

श्चरत्येवं प्राज्ञः सततपरमानन्दसुखितः ॥

ब्रह्मवेत्ता महा पुरुष कहीं मूढ, कहीं विद्वान् और कहीं महाराज-सरीखे विभव वाला दिखलायी देता है। वह कहीं भ्रान्त, कहीं शान्त और कहीं अजगर की तरह निश्चल दीख पड़ता है। इस प्रकार निरन्तर परमानन्द में मग्न हुआ, विद्वान् कहीं सम्मानित, कहीं अपमानित और कहीं अज्ञात रह कर अलक्षित गति से विचरता है।

इन्हीं महा पुरुषों के लिये जावालोपनिषद् की श्रुति तथा कत्यायन स्मृति में लिखा है कि वाहरी सम्पूर्ण सन्यासादि के चिन्हों का तथा आचरणों का त्याग करके यथाप्राप्त चारो वर्णों की भिक्षा करते हुए अपने आत्मस्वरूप में निमग्न होकर उन्मत्त न होते हुए भी उन्मत्त की भांति विचरते हैं, यथाः—

तत्र परमहंसानाम संवर्तकारुणिश्वेतकेतु दुर्वासरिभुनिदाघरैवत जड़भरतदत्तात्रयप्रभृतयोऽव्यक्त लिङ्गाऽव्यक्ताचारा अनुन्मत्ता उन्मत्तवदाचारन्तः ॥

इति जावालोपनिषद् ।

परमहंसा न दण्डधराः मुण्डा कन्थाकौपीन वाससोऽव्यक्तलिङ्गा अव्यक्ताचारा अनुन्मत्ता उन्मत्तावदाचारन्तस्त्रिदण्डकमण्डलुशिक्यपात्रजलपवित्रपादुकासनशिखासूत्रत्यागिनः शून्यागारदेवगृहवासिनो न तेषां धर्मो नाधर्मो न सत्यं नापि चानृतं सर्वंसमाः सर्वसहाः समलोष्टाश्मकाञ्चना यथोपपन्नं चातुर्वर्ण्यं भैक्ष्यचार्यं चारन्तः आत्मानं मोक्षयन्ते ॥

इति कात्यायन स्मृतिः ।

शुकदेव, वामदेव, ऋषभदेव इत्यादि इसी कोटि के अवधूत परमहंस थे।

अब सन्यास-काल का वर्णन करते हैं:—

सन्यास-कालः—

सन्यास के समय के विषय में श्रुति ने कहा है:—यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रव्रजेत् । ब्रह्मचर्यादेव गृहाद्वा वनाद्वा ॥ 'जिस दिन वैराग्य हो जाय, उसी दिन सन्यास ले ले; ब्रह्मचर्य आश्रम से अथवा गृहस्थाश्रम से या वानप्रस्थाश्रम से' और भी कहा है:—

यदैव चास्य वैराग्यं जायते सर्व वस्तुषु ।

तदैव सन्यसेद्विद्वान् अन्यथा पतितो भवेत् ॥ १ ॥

'इस पुरुष को जिस काल में सम्पूर्ण वस्तुओं में दृढ़ वैराग्य हो जाय, उसी काल में सन्यास ले ले, अन्यथा करने से अर्थात् बिना वैराग्य के सन्यास लेने पर पतित होता है॥ १ ॥ जो यह कहा गया है कि—'**ब्रह्मचार्यात्गृही भवेत गृहात्वनी भवेत वनात्प्रव्रजेत**' 'ब्रह्मचर्य आश्रम से गृहस्थ होय और गृहस्थ से वानप्रस्थी होय तथा वानप्रस्थ से सन्यास कर दे, सो तो जिनको वैराग्य नहीं है, उन्हीं विषयी पुरुषों के लिये कहा गया है, इस को क्रम सन्यास कहते हैं, और पहले कहा हुआ अक्रम सन्यास कहलाता है। जो बुढ़ापे में ही सन्यास होता, तो पहले के युगों में जड़ भरत, ऋषभदेव, दत्तात्रेय, शुक, सनकादि बाल्यावस्था में ही सन्यास क्यों लेते ? तथा इस कलियुग में शंकराचार्य आठ ही वर्ष की अवस्था में तथा और भी बहुत पुरुष बिना वृद्धावस्था के ही सन्यास क्यों लिये हैं ? अतः सन्यास का कोई निश्चित काल नहीं है, किन्तु वैराग्य पर निर्भर है।

पूर्वोक्त सातवें तथा आठवें दोहे में जो निष्कामकर्म तथा उपासना के द्वारा मल (पाप) तथा विक्षेप (चंचलता) की निवृत्ति होकर पुनः ज्ञानसे आवरण रूपी अज्ञान की निवृत्त

कही गई थी, उसकी पूर्ति इस उपर्युक्त एकतीसवें दोहे से हो गयी है कि 'वह कृपालु गुरु यदि शिष्य का शरीर ब्राह्मण का हो, तो विविदिषा सन्यास देकर और यदि अन्य वर्ण का हो, तो विना सन्यास दिये ही ज्ञान का उपदेश दे, जिससे अज्ञान की निवृत्ति होकर अपने स्वरूप का बोध हो। अब उपदेश की रीति बतलाते हैं:—

उपदेश के वाक्य:—

उपदेश के वाक्य दो प्रकार के होते हैं, एक तो अवान्तर (गौड़) वाक्य और दूसरा महा (मुख्य) वाक्य। अवान्तर वाक्य वह है, जिससे जीव के शुद्ध स्वरूप प्रत्यक् आत्मा एवं ईश्वर के शुद्ध स्वरूप ब्रह्म का ज्ञान तो हो, परन्तु पृथक् पृथक्, अर्थात् आत्मा और परमात्मा के स्वरूप को जानते हुए भी दोनों में भेद प्रतीत हो, और जिससे आत्मा और परमात्मा की एकता का बोध हो अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ, ऐसा ज्ञान हो, उसे महा वाक्य कहते हैं। अवान्तर वाक्य की श्रुति यह है:—य एषो ऽन्तरज्योतिः पुरुषः। अर्थात् जो यह हृदय के भीतर ज्योति (चेतन) है, वह पुरुष (आत्मा) है। भाव यह कि शरीर बाहर है तथा जड़ होने से पर प्रकाश्य दृश्य है, तथा आत्मा अन्तर है चैतन्य होने से शरीर का प्रकाशक द्रष्टा है। प्रकाशक [द्रष्टा] प्रकाश्य [दृश्य] से सर्वदा भिन्न [अलग] होता है, इसीलिये मैं आत्मा प्रकाशक

होने से शरीर से भिन्न हूँ। श्री मद्भगवत्गीता में अवान्तर वाक्य इस प्रकार कहा है:—

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत: ॥ १ ॥

—'हे भारत! जैसे यह एक ही सूर्य सम्पूर्ण लोकों को प्रकाशित करता है, वैसे ही क्षेत्री (आत्मा) सम्पूर्ण क्षेत्रों (शरीर) को प्रकाशता है. ॥ १ ॥ और भी कहा है:—अजो नित्यः

शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।

'यह आत्मा अजन्मा, नित्य, शाश्वत तथा पुराण है और शरीर के नाश होने से भी इसका नाश नहीं होता है। इन पूर्वोक्त अवान्तर वाक्यों के द्वारा आत्मा का बोध होता है और परमात्मा के प्रति अवान्तर वाक्य ये हैं:—'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' आनन्दो ब्रह्म'। 'सत्य, ज्ञान तथा अनन्त ब्रह्म है, आनन्द ब्रह्म है।' तीन काल में जिसका नाश न हो, उसे सत्य, जो अलुप्त प्रकाश वाला अर्थात् स्वयं प्रकाशस्वरूप हो, उसे ज्ञान और जिसका देश, काल तथा वस्तु, इन तीन परिच्छेदों से अन्त न हो उसे अनन्त कहते हैं। जो पदार्थ किसी देश में हो और किसी देश में न हो, वह देशपरिच्छेद वाला, जो किसी काल में रहे और किसी काल में न रहे, वह कालपरिच्छेद वाला तथा जो किसी पदार्थ में रहे और किसी में

न रहे, वह वस्तुपरिच्छेद वाला है। सर्वव्यापी होने से वह ब्रह्म देश-परिच्छेद से रहित है, और तीन काल अबाधित होने से उसमें कालपरिच्छेद नहीं है तथा सब पदार्थों का अधिष्ठान होने से वह वस्तुपरिच्छेद वाला भी नहीं है। कल्पित पदार्थ के आश्रय को अधिष्ठान कहते हैं जिस कालमें मार्ग में सर्प के आकार में पड़ी हुई रस्सी में सर्प की भ्रान्ति हो जाती है, उस समय उस कल्पित सर्प का अधिष्ठान वह रस्सी होती है, जो कि उस कल्पित सर्प के (अंगों) में प्रवेश की रहती है अर्थात् वह सर्प रस्सी का ही विवर्त होने से रस्सी से भिन्न नहीं होती है, बल्कि रस्सी ही सर्प रूप से प्रतीत होती है। वैसे ही सब वस्तुएं एक ब्रह्म में ही भ्रम से प्रतीत हो रही हैं, अतः वस्तुओं से भिन्न न होने के कारण ब्रह्म का वस्तुपरिच्छेद से भी रहित होना ठीक ही है। सृष्टि के आदि मध्य तथा अन्त में भी उसका अभाव नहीं होता है, इसलिये वह सत्यस्वरूप है। वह ब्रह्म सृष्टिकाल में अखिल ब्रह्माण्ड का ज्ञान करता है और सृष्टि के अभाव काल में उसके अभाव को भी जानता है, परन्तु जड़जगत उसको किसी काल में भी नहीं जान सकता, अतएव वह ब्रह्म ज्ञान स्वरूप है। परम प्रेमास्पद (परम प्रीति का विषय) होने से ब्रह्म आनन्दस्वरूप है, क्यों कि सब पुरुषों को यह अनुभव है कि 'ईश्वर से मेरा वियोग हो गया है अतः हम दुःखी हैं और उस ईश्वर को ही प्राप्त करके हम सुखी होंगे। यदि ब्रह्म आनन्दस्वरूप न होता, तो

उसकी प्राप्ति से प्राणी सुख की इच्छा क्यों करते।

जीव और ब्रह्म के पृथक-पृथक बोध कराने वाले अवान्तर वाक्यों का वर्णन हो गया, अब एकता के बोधक महा वाक्यों का वर्णन करता हूँ: 'तत्वमसि' 'वह (ब्रह्म) तू (जीव) है, यह श्रुति का महा वाक्य है और भगवान् श्री कृष्णचन्द्र जी के महा वाक्य ये हैं:—'क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धिसर्व क्षेत्रेषु भारत।' 'अहमात्मा गुडाकेश सर्व भूताशय स्थितः।' 'हे अर्जुन। सम्पूर्ण क्षेत्रों (शरीरों) में क्षेत्रज्ञ भी मुझको ही जानो। हे गुडा केशः सम्पूर्ण प्राणियों के हृदय में स्थित आत्मा मैं हूँ।' अब आवरणरूपी अज्ञान की उन शक्तियों का वर्णन करता हूँ, जिनके ये अवान्तर वाक्य तथा महा वाक्य नाशक हैं:—

अज्ञान की शक्तियां और उनका नाश—

'ब्रह्मनास्ति' 'न प्रकाशते'। 'ब्रह्म नहीं है', और 'प्रतीत भी नहीं होता है', इस प्रकार ये अज्ञान की दो शक्तियां हैं, ये दोनों शक्तियां अज्ञान काल में अपने आत्म-स्वरूप को आच्छादित रखती हैं। जब शिष्य आचार्य के मुखारविन्द से 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म,' 'आनन्दो ब्रह्म' इत्यादि अवान्तर वाक्यों को सुनता है, तो 'ब्रह्म नहीं है', यह पहला आवरण हट कर (नष्ट होकर) ऐसा बोध

होता है कि 'ब्रह्म अस्ति' 'ब्रह्म है; अर्थात् ब्रह्म सच्चिदानन्द तथा अनन्त है यानी ब्रह्म का अभाव नहीं है, बल्कि वह सच्चिदानन्दरूप से विद्यमान है'। परन्तु इस प्रकार का बोध होने पर भी 'दूसरा' आवरण यह रह जाता है 'कि प्रतीत नहीं होता है', तब ब्रह्मनिष्ठ गुरु 'तत्वमसि' 'वह तू है', इस महावाक्य का उच्चारण करता है [उपदेश करता है]। बस, इस प्रकार के महावाक्य के सुनते ही दूसरा आवरण नष्ट होकर शिष्य को बोध होता है कि:—अहं ब्रह्मास्मि 'मैं ब्रह्म हूं', क्योंकि उस ब्रह्म का स्वरूपलक्षण जो सच्चिदानन्द है, वह मुझमें ही घटता है। जैसे:—जो मैं इस शरीर के पहले था, वही मैं अब हूं तथा इस शरीर के बाद भी रहूंगा तथा जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति, इन तीन अवस्थाओं में भी मेरा अभाव नहीं रहता, इसलिये मैं सत्य हूं, तथा पूर्व के शरीर में यह शरीर नहीं रहा और इस शरीर में पूर्व का शरीर नहीं है, अतएव शरीर असत्य है और मैं सत्य हूँ, तथा जागृत में स्वप्न और सुषुप्ति ये दोनों अवस्थाएं नहीं रहतीं; और स्वप्न अवस्था में जागृत तथा सुषुप्ति नहीं रहती, एवम् सुषुप्ति में जागृत तथा स्वप्न ये दोनों अवस्थाएं नहीं रहती, इसलिये ये तीनों अवस्थाएं मिथ्या हैं और मैं तीनों अवस्थाओं में रहता हूं, अतः मैं सत्य हूँ, तथा ऐसी प्रतीति कभी नहीं होती है कि मैं नहीं हूं, बल्कि 'मैं हूँ—मैं हूं, ऐसी प्रतीति

सर्वदा होती रहती है, इस रीति से भी मैं सत्य हूं।

पंचकोशमय तीन शरीर तथा तीन अवस्थाओं को मैं जानता हूं, इसलिये मैं चित् [चैतन्य] हूं और तीन अवस्था तथा तीन शरीर मुझको नहीं जानते, अतएव ये जड़ हैं। परम प्रीति का विषय होने से आनन्द हूँ, क्योंकि लोक में जहां-जहां प्रेम होता है, वहां-वहां आनन्द देखा जाता है। मैं अपने को किसी काल या किसी अवस्था में अप्रिय नहीं मानता हूँ, इसलिये मैं आनन्द हूं, और शरीर तथा अवस्थाएं तो मेरे रहने (कल्पित तादात्म्य सम्बन्ध) से सुख सा प्रतीत होती हैं, वास्तव में ये दुःखरूप ही हैं। जिस शरीर तथा जिस अवस्था में मैं नहीं रहता हूँ, वह शरीर मुझे अच्छा नहीं लगता और वह अवस्था भी सुख सा प्रतीत नहीं होती, बल्कि दुख सा ही प्रतीत होती है, अतएव मैं सुख स्वरूप हूँ।

मैं सत् हूं, जो इतना ही कहते, तो नैयायिकों के परमाणु, काल, आकाश तथा साख्यों की प्रकृति में अतिव्याप्ति होती है, क्योंकि उन्होंने इन्हें नित्य (सत्) माना है; इसलिये 'मैं चित् हूं,' ऐसा कहा। नैयायिकों के परमाणु आदि एवं साख्यों की प्रकृति, ये नित्य तो हैं, परन्तु चेतन नहीं हैं; बल्कि जड़ हैं; इस लिये अतिव्याप्ति दोष नहीं होता। 'मैं चित हूँ,' जो इतना ही कहते, तो नैयायिकों के ज्ञान गुण वाले आत्मा तथा प्रत्यक्ष सूर्य में अतिव्याप्ति होती है, अतः 'मैं आनन्द हूँ,' ऐसा कहा; क्योंकि नैयायिकों के आत्मा एवं प्रत्यक्ष सूर्य आनन्द-

स्वरूप नहीं हैं। 'मैं आनन्द हूँ' इतना ही कहते, तो नैयायिको के आनन्द गुण वाले आत्मा तथा विषयसुख या वासनानन्द अथवा लौकिकी चिद्यानन्द में अतिव्यापी होती; इसलिये 'मैं चित हूँ,' ऐसा कहा; क्योंकि नैयायिकों के आत्मा, विषयसुख, इत्यादि सभी जड़ हैं अतएव उनमें अतिव्याप्ति नहीं हो सकती। अब लक्षण के दोष दिखलाते हैं:—

लक्षण में दोषः—

जो लक्षण अपने लक्ष्य (साध्य) में रहता हुआ अन्य जगह भी रहे (व्यापे) उसे अतिव्याप्ति दोष वाला कहते हैं, जैसे किसी ने कहाः—'गो सिंगों वाली होती है,' यहां अति-व्याप्ति दोष है, क्योंकि वे सिंग, गो जाति वाले पशु में रहते हुए भी अजा, महिषी आदि पशुओं में भी रहते हैं। जो लक्षण अपने लक्षय (सिद्ध करने वाली वस्तु) के किसी एक देश में रहे, उसे अव्याप्ति दोष वाला कहते हैं जैसे किसी ने कहाः—'गो कपिल वर्ण की होती है,' यहां अव्याप्ति दोष होता है, क्योंकि यह कोई नियम नहीं है कि गो कपिल वर्ण की ही होती है, अन्य वर्ण की नहीं होती; वरन् वह दूसरे वर्ण की भी होती है, अतः पूर्वोक्त लक्षण किसी एक देश [गो] में तो व्याप्त है परन्तु अन्य देश अजादि में नहीं, और जो लक्षण अपने लक्ष्य में नहीं रहे, उसे असंभव दोष कहते हैं, जैसे किसी ने कहाः—वायु रूपवान् है अथवा अग्नि शीतल है, यहां असम्भव दोष है, क्योंकि वायु में रूप का तथा अग्नि

में शीतलता का होना असंभव है। अब उन बातों को कहते हैं, जिनकी श्रवण, मनन के समय जिज्ञासु की परम आवश्यकता है।

-जिज्ञासु के लिये आवश्यकता:-

दोहा—शुद्ध देश एकान्त महं,
नरमासन आरूढ़।
अशन स्वप्न जागृत सभी,
नियमित करे अमूढ़ ॥ ३२ ॥

दोहार्थ—बुद्धिमान् पुरुष, पवित्र तथा एकान्त देश में मुलायम आसन अर्थात् कुशा, मृगचर्म, वस्त्रादि विछाकर भोजन, निन्द्रा और जागरण को नियमित करें अर्थात् तुला हुआ करे ॥ ३२ ॥ जैसे गीता में कहा है:—**शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिर मासनमात्मनः । नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥ १ ॥** 'पवित्र स्थान यानी जो स्थान गंगा का तट अथवा देवालय हो, जहां विषयी पुरुषों का जमाव न हो, व्याघ्र, सर्प, विच्छू, इत्यादि हिंसक जन्तुओं का भय न हो और गो मय, मृत्तिकादि से लिया हो, ऐसे स्थान में अपने आसन को स्थापन करे [लगाये]; वह आसन न अति ऊंचा हो और न अति नीचा हो, [क्योंकि ऊंचा से

गिरने का भय रहता है और नीचा से हिंसक जीवों का] उस पर कुशा, मृगचर्म एवं वस्त्र बिछे हों।' भोजन के विषय में योग-शास्त्र में यों कहा है:—**कुर्यादाहारं प्राणसंधारणार्थं प्राणाः संधार्यास्तत्त्वजिज्ञासनार्थं तत्त्वं जिज्ञास्यं येन भूयो न दुःखम्।** 'प्राण धारण के लिये आहार करे, तत्त्व [ब्रह्म] के जानने के लिये प्राण को धारण करे, जिससे [तत्त्व को जान लेने पर] फिर दुःख न हो' और भी कहा है:—**पूरयेदशनेनार्धं तृतीयमुदकेन तु। वायुसंचारणार्थं तु चतुर्थमवशेषयेत् ॥ १ ॥** 'आधा पेट अन्न से तथा तीसरा हिस्सा जल से भर दे; और चौथा भाग श्वासा के लिये छोड़ रक्खे, यह नियमित आहार कहलाता है। जागरण और स्वप्न के विषय में ऐसा कहा है:—**रजन्यां मध्यमौ यामौ कुर्यान्निन्द्रा न चान्यथा ॥** 'रात्रि के मध्य में [दो पहर आठ घड़ी] सोये, अन्यथा [रात के प्रथम पहर और चौथे पहर तथा दिन में] निद्रा न ले,' फिरः—

दोहा-युगल विरागाभ्यास से,
मन का करे निरोध।
ब्रह्मचर्यरत विगतभय,
एहि विधि प्रकटे बोध ॥ २२ ॥

दोहार्थ—ब्रह्मचर्य (वीर्य रक्षा) में तत्पर होता हुआ तथा भय को त्याग करके वैराग्य और अभ्यास, इन दोनों से मनको वश में करे। लोक तथा परलोक की सभी वस्तुओं को नश्वर समझ कर इच्छा से रहित होने को वैराग्य और आत्मा को सत्य तथा सुखस्वरूप समझ कर बारम्बार चिन्तन करने को अभ्यास कहते हैं, इस प्रकार के नियमों के करने से बोध (आत्म ज्ञान) उत्पन्न होता है ॥ ३३ ॥ मन के वश करने के विषय में गीता में भगवान् ने भी कहा है—अभ्यासेन तु कौंतेय वैराग्येण च गृह्यते ॥ 'हे कौंतेय! वह [मन] अभ्यास तथा वैराग्य से वश में किया जाता है' ॥ योग सूत्र में भी कहा है:—अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ 'उस मन का निरोध अभ्यास तथा वैराग्य से होता है।' इस प्रकार आवश्यक नियमों से युक्त हुआ शिष्य—

दोहा-शास्त्र वाक्य गुरु वाक्य सुनि
पुनि करि पूर्ण विचार।
करि विचार तद्रूप ह्वै,
लहै समाधि अपार ॥ ३४ ॥

दोहार्थ—शास्त्र और गुरुके अवान्तर तथा महावाक्यों को सुन [श्रवण] करके फिर अच्छी तरह विचार [मनन] करे [कि किस प्रकार से कहे गये हैं], विचार करके [निदि-

ध्यासन द्वारा] तद्रूप होकर अर्थात् अपनी वृत्ति को ब्रह्माकार करके अपार [अखण्ड] समाधि को प्राप्त होवे ॥ ३४ ॥

दोहा-एहि विधि श्रवण मनन करि,
निदिध्यासन से युक्त ।
तीनि देह को झूठ करि,
मानत आपुहिं मुक्त ॥ ३५ ॥

दोहार्थ—इस प्रकार [पूर्व कथितानुसार] श्रवण, मनन और निदिध्यासन से युक्त हुआ [पुरुष] तीन शरीर [स्थूल सूक्ष्म और कारण] को असत्य और अपने को सत्य तथा इन शरीरों से मुक्त [छूटा हुआ अर्थात् पृथक] मानता है ॥ ३५ ॥ बृहदारण्य श्रुति में भी याज्ञवल्क्य जी ने मैत्रयी के प्रति कहा है:—आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। 'अरे मैत्रयी ! यह आत्मा देखने योग्य, सुनने योग्य, मनन करने योग्य तथा निदिध्यासन करने योग्य है' । श्रवणादि का दृष्टान्तः—

श्रवणादि का पहला दृष्टान्तः—

जिस प्रकार मृग चित्त लगा [एकाग्र] करके वीणा के नाद [शब्द] को सुनता है, उसी प्रकार गुरु वाक्य में चित्त लगाकर श्रवण करना चाहिये । जैसे चातक स्वाति-

जल के लिये रटन करता है अर्थात् कूप, तोलाब, सरित, सागर आदि जलों को भूलकर केवल स्वाति-जल में चित्त लगाये रहता है, वैसे ही मनन करना चाहिये। जैसे चकोर चन्द्रमा में मन लगाता है, वैसे ही निदिध्यासन करना चाहिये, और जैसे लवण-पुतली समुद्र में प्रवेश कर जल रूप होकर अपने नाम तथा रूप को खो देती [भूल जाती] है, वैसे ही निदिध्यासन की पराकाष्ठा में पहुँच कर संमाधि करनी चाहिये।

दूसरा दृष्टांत:—

जैसे अग्नि को छोड़ देने से स्वयम् बूझ जाती है, वैसे ही मनन के न करने से श्रवण किया हुआ ज्ञान भूल जाता है, परन्तु वही ज्ञान मनन करने से विद्युताग्नि [बिजली] के तुल्य हो जाता है। जिस प्रकार घोर-वर्षा का जल विद्युत को बुझा नहीं सकता है, उसी प्रकार उस मनन किये हुए ज्ञान को अज्ञान नष्ट नहीं कर सकता, फिर वही ज्ञान निदिध्यासन करने से बड़वानल के तुल्य हो जाता है। यद्यपि वर्षा का जल विद्युत् का नाश नहीं करता है, तथापि विद्युत् से नष्ट भी नहीं होता है, परन्तु बड़वानल तो जल को भी जलाता है। उसी प्रकार निदिध्यासन किया हुआ ज्ञान अज्ञान को भी नष्ट करने लगता है, और ऐसा प्रतीत होने लगता है कि मेरे शुद्धात्म स्वरूप में अज्ञान तथा अज्ञान जनित जगत नहीं है,

और जब समाधि हो जाती है, तब तो ज्ञान प्रलयाग्नि के समान हो जाता है। जैसे प्रलयाग्नि अखिल ब्रह्माण्ड को भस्म कर एक आप ही रह जाती है, उसी प्रकार समाधिस्थ पुरुष जब अद्वितीय ब्रह्म भाव से स्थित होता है, तब वह भी प्रतीत नहीं होता कि 'मैं ब्रह्म हूँ', या किसी वस्तु में चित्त-वृत्ति को लगा रहा हूं, उस समय उसकी स्थिति अनिर्वाच्य हो जाती है।

तीसरा दृष्टान्तः—

भोजन बनाने की विधि सुनने के तुल्य श्रवण, रसोई बनाने के सदृश मनन तथा भोजन करने के समान निदिध्यासन होता है; और भोजन करने से जो तृप्ति होती है, उसीके समान समाधि समझनी चाहिये। अब यह शंका होती है कि प्रथम इसी ग्रन्थ में अवान्तरवाक्य तथा महावाक्य के श्रवण मात्र से ही परोक्ष तथा अपरोक्ष ज्ञान की उत्पत्ति द्वारा कारण अविद्या के सहित सकल प्रपञ्च की निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति कही गयी है, फिर यहां पर वेदान्त शास्त्र के श्रवणादि की क्या आवश्यकता है? इसका समाधान यह है:—

श्रवणादि की आवश्यकता-

दोहा-वीपर्यय-संसय युगल,
करत भेद भ्रम आदि।

लखे नहीं अपरोक्ष हू,
वस्तु अतः श्रवणादि ॥ ३६ ॥

दोहार्थ—संशय और विपर्यय ये दोनों भ्रम तथा भेदादि उत्पन्न करते हैं, इसलिये अज्ञानी पुरुष अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) वस्तु को भी यथार्थ रीति से नहीं देख सकता। श्रवण, मनन, और निदिध्यासन के द्वारा इन दोनों [संशय और विपर्यय] का नाश हो जाता है, अतः श्रवणादि करना सार्थक है ॥३६॥

भावार्थ—संशय को असम्भावना और विपर्यय को विपरीत भावना कहते हैं। पुरुष के हृदय में जवतक असम्भावना और विपरीत भावना ये दोनों दोष रहते हैं; तवतक पदार्थ के सम्मुख होते हुए भी उसको भ्रम होकर भेद हो जाता है। जैसेः—मन्द अन्धकार में स्थाणु को देखकर पहले ऐसा संशय होता है:—'स्थाणुर्वापुरुषो वा,' अर्थात् यह ठूंठ वृक्ष है अथवा पुरुष है, जव इस प्रकार का संशय होता है, तो फिर बुद्धि घबराकर भ्रम में पड़ जाती है, उसके बाद विपरीत भावना हो जाती है अर्थात् वह भ्रमित बुद्धि ऐसा विपरीत निश्चय कर लेती है कि 'यह पुरुष है' ज्योंही ऐसा निश्चय हुआ कि झट भेद उत्पन्न हो जाता है कि यह पुरुष स्थाणु से भिन्न है। विचार करके देखा जाय तो क्या वह पुरुष स्थाणु से भिन्न होता है ? कदापि नहीं, और भी एक स्पष्ट दृष्टांत सुनियेः—एक बड़ा भारी ऐश्वर्यशाली तथा पराक्रमी राजा था, उसका

एक ही आज्ञाकारी प्रिय पुत्र था। किसी दिन उस पर एक दूसरे राजा ने चढ़ाई की, तव उससे युद्ध करने के लिये उसका पुत्र गया। इधर तो युद्ध होने लगी, उधर किसी धूर्त्त ने जाकर राजा से कहा कि महाराज! आपके शत्रु का भेजा हुआ एक वहुरूपिया आपके पुत्र का भेष वनाकर हाथ में तलवार लिये आज आयेगा और आप उससे ज्योंही मिलने जायेंगे, त्योंही वह उस तलवार से आप का सिर काट डालेगा, अतएव आप होशियार रहियेगा। मैंने यह वात इसलिये कही कि आप हमारे अन्नदाता स्वामी हैं, मैं आप की प्रजा हूँ, अतः आपकी ही रक्षा से मेरी रक्षा है। इस प्रकार धूर्त्त की वातों का राजा को विश्वास हो गया और वह मनुष्य वहां से चला गया। इतने में ही शाम हो चली और राजा का पुत्र भी शत्रुओं को पराजय कर हाथ में तल-वार लिये आ पहुँचा। उसको देखते ही राजा के होश उड़ गये, उसने समझा कि शत्रु का भेजा हुआ वहुरूपिया आ गया, अव मुझे विना मारे नहीं छोड़ेगा। जव पुत्र ने देखा कि पिता जी का मुख तो मारे डर के पीला पड़ रहा है, तो वह कहने लगा पिता जी! आप चिन्ता न करें, मैं शत्रुओं को जीत कर आया हूँ; पर वह राजा कव मानने वाला था, उसके हृदय में तो उस धूर्त्त के वचन अपना अधिकार जमाये वैठे थे, वह वहां से भागा और मकान के किसी कोठरी में घुस गया तथा कपाटों को वन्द कर दिया। देखिये!

असंभावना और विपरीत भावना की महिमा, कि वह राजा संग्राम-विजयी अपने प्रिय पुत्र को देखता हुआ भी भयभीत होकर घर में छिप गया। उस राजा ने अपने-प्रिय पुत्र को देखा सही, परन्तु उस भेदवादी धूर्त के वचनों में विश्वास करने से उसे संशय हो गया कि यह पुत्र है या बहुरूपिया ? इस प्रकार के संशय होने के कारण सहसा निश्चय नहीं हो सका और बुद्धि व्यग्र हो गयी, फिर उसने भ्रम में पड़कर विपरीत भावना करली अर्थात् उलटा निश्चय कर लिया कि यह निस्सन्देह बहुरूपिया ही है; जब उसकी अपने पुत्र में ऐसी भेदबुद्धि हो गयी, तो भय हो गया। इसलिये संशय और विपर्यय महान् अनर्थ के हेतु हैं।

पूर्वोक्त प्रकार से भेदवादियों के वचनों में विश्वास करके जिसका हृदय संशय तथा विपर्यय से ग्रसित है, वह अद्वैत प्रतिपादक श्रुति और शास्त्रों को देखता हुआ तथा गुरु के मुखारविन्द से महावाक्यों को भी सुनता हुआ उसमें विश्वास नहीं करता; अतएव उसको उलटा ही प्रतीत होता है और जब वही पुरुष श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य के द्वारा श्रुतिशास्त्रों का अच्छी प्रकार श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन कर लेता है, तब महावाक्य के सुनते ही उसे झट आत्मा का साक्षात्कार हो जाता है। परन्तु जिसके हृदय में पूर्वार्जित संस्कार से असंभावना और विपरीतभावना नहीं है, उसके

लिये श्रवणादि की कोई आवश्यकता नहीं है, उसे तो केवल महावाक्य से ही बोध हो जायगा । अब परमार्थ में संशय दिखलाते हैं:—

संशयः

उपर्युक्त संशय दो जगह होता है; एक प्रमाण [शास्त्र] में और दूसरा प्रमेय [चेतन] में । प्रमाणगत संशय यह है कि:—वेदान्त शास्त्र जीव तथा ब्रह्म के अभेद का कथन करता है, या भेद का । श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ आचार्य के द्वारा वेदान्त के श्रवण से इस प्रकार का संशय दूर हो जाता है, और प्रमेयगत संशय दो प्रकार के होते हैं एक परमात्मा में और दूसरा जीवात्मा में । परमात्मा में इस प्रकार के संशय होते रहते हैं:—परमात्मा एक ही अद्वितीय है या सत्ता जाति [गुण] वाला है ? यदि सत्स्वरूप है, तो चेतनस्वरूप है या ज्ञान गुण वाला है ? यदि ज्ञानस्वरूप है, तो आनन्दस्वरूप है या आनन्दगुण वाला है ? इत्यादि, और आत्मा के विषय में इस प्रकार के संशय होते रहते हैं:—आत्मा शरीर से भिन्न है या शरीर ही है ? यदि भिन्न है, तो अविकारी (कूटस्थ] है या विकारवान् है ? यदि अविकारी है तो आनन्दस्वरूप है या आनन्द गुण वाला है ? यदि आनन्दस्वरूप है, तो ज्ञानस्वरूप है या ज्ञानगुण वाला ? यदि ज्ञानस्वरूप है तो सत् स्वरूप है या सत्ता जाति वाला है ? इत्यादि । पूर्वोक्त प्रकार से मोक्ष के

विषय में भी संशय होते रहते हैं कि:—जीव और ईश्वर के अभेद ज्ञान से मोक्ष होता है कि भेद से ? यदि अभेद ज्ञान से ही मोक्ष होता है, तो कर्म के सहित ज्ञान से या केवल ज्ञान से ? इत्यादि।

मननः—

उपर्युक्त सभी संशय मनन से दूर हो जाते हैं। मनन इस प्रकार होता है:—परमात्मा सद्वितीय नहीं है, वल्कि एक ही अद्वितीय है, क्योंकि जो कुछ नामरूपात्मक प्रपञ्च है, वह परमात्मा से भिन्न नहीं है, इसमें श्रुति प्रमाण बहुत हैं, जैसे:—

"ब्रह्मैवेदं सर्वं" "पुरुष एवेदं सर्वं विश्वम्" "मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः" "एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म" "सर्वं खल्विदं ब्रह्म, नेह नानास्ति किंचन" इत्यादि। 'यह सब (जगत) ब्रह्म ही है, यह सब विश्व पुरुष [परमात्मा] ही है, यह द्वैत मायामात्र (मिथ्या] है, वस्तुतः अद्वैत ही है, एक ही अद्वितीय ब्रह्म है, यह सब (जगत) निस्सन्देह ब्रह्म है; यह नानात्व किंचित् मात्र भी नहीं है, इत्यादि।

श्रुतियां एक ही अद्वितीय ब्रह्म का प्रतिपादन करती हैं, इससे ब्रह्म सद्वितीय नहीं है, वल्कि अद्वितीय है।

शंका:—बहुत सी श्रुतियां द्वैत का भी प्रतिपादन करती हैं, तो अद्वैत ही क्यों माना जाय? समाधानः—ठीक है, द्वैत के प्रतिपादक भी श्रुतियां हैं, तथापि निर्बल प्रमाण से सबल प्रमाण श्रेष्ठ माना जाता है, इस नियम से अद्वैत प्रमाण ही मानने योग्य हैं, क्यों कि आप्त पुरुष के वाक्य दो ही हेतु से हुआ करते हैं, एक तो किसी अज्ञात वस्तु को जनाने के लिये और दूसरे कोई महान फल (लाभ) के लिये । यदि वेद भगवान् का अभिप्राय द्वैत में ही माना जाय तो कोई अज्ञान वस्तु की सिद्धि नहीं होगी, क्यों कि द्वैत का अनुभव तो इस प्रकार सबको है कि 'मैं ईश्वर नहीं हूँ' 'बल्कि अल्पज्ञ जीव हूं, ईश्वर के अनुग्रह से मेरा दुःख दूर होगा' इत्यादि । जो विषय सब अज्ञानीजनों को ज्ञात है, उसीका अनुवाद वेद भगवान् क्यों करेंगे तथा इससे प्राणियों का क्या उपकार होगा ? किन्तु इससे तो महान् हानि होगी, क्योंकि श्रुतियां कहती हैं—

'मृत्युः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति' 'द्वितीयाद्वै भयं भवति', इत्यादि । 'जो यहां नानात्व देखता है अर्थात् ब्रह्म से भिन्न और कुछ देखता है, वह बार-बार जन्म-मरण को प्राप्त होता है, दूसरे से दूसरे को अवश्य भय होता है' इत्यादि । श्रुतियां नानात्व का निषेध करती हुई महान् भय (हानि) का कथन करती हैं और एक ही अद्वितीय परमात्मा के ज्ञान से महान् लाभ (मोक्ष) का कथन है । यथा:—

तमेव विदित्वातिऽमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय। अर्थात् अधिकारी पुरुष उस अद्वितीय ब्रह्म को ही जान कर मृत्यु (अविद्या) से परे हो जाता है। मृत्यु से तर जाने के लिए उस ब्रह्म ज्ञान के सिवा दूसरा मार्ग नहीं है। और भीः—तरति शोक मात्मवित्। अर्थात् आत्मवेत्ता शोक को पार कर जाता है। द्वैत का प्रतिपादन तो श्रुतियां अज्ञानियों से कर्मउपासना कराने के लिए करती हैं, क्यों कि बिना निष्काम कर्म तथा उपासना के हृदय की शुद्धि एवं स्थिरता नहीं हो सकती, और अस्थिरता तथा मलीनता के कारण हृदय में अद्वितीय ब्रह्म का ज्ञान हो ही नहीं सकता। अतः कहते हैं:—

दोहा— गुरू शिष्य के बोध हित
करत द्वैत स्वीकार।
अज्ञ ग्रहण करि देव त्वै,
करें सकल व्यवहार॥ ३७

दोहार्थ—शिष्य के बोध के लिए गुरु द्वैत को स्वीकार करता है। यथा श्रुतिः— असत्ये वर्त्मनिस्थित्वा ततः सत्यं समीहते। अर्थात् गुरु असत्य मार्ग (कर्म उपासना) में लगा कर फिर सत्य मार्ग ज्ञान (अद्वितीय) दिखलाता

है। जैसे अरुन्धती के तारा को दिखलाने के लिए पहिले सप्तर्षि-मण्डल आदि ताराओं को दिखलाया जाता है, वैसे ही पहले गुरु द्वैत (कर्म-उपासना) बतला कर पीछे अद्वैत को लखाता है। अज्ञान को ही ग्रहण करके तीनों देव (ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र) सम्पूर्ण व्यवहार (उत्पत्ति, पालन, लय) करते हैं। अर्थात् सृष्टि आदि व्यवहार अज्ञान अवस्था में ही है, परमार्थ से नहीं ॥ ३७ ॥ यदि द्वैत भी कोई वस्तु होती, तो उसका अभाव कभी नहीं होता, क्यों कि सत्य-पदार्थ का अभाव कभी नहीं होता है। भगवान श्री कृष्णचन्द्र जी ने गीता में कहा है:— **नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।** 'असत्य का अस्तित्व नहीं होता और सत्य का कभी अभाव नहीं हो सकता। इस नियम के अनुसार द्वैत का अस्तित्व नहीं हो सकता, क्योंकि समाधि तथा सुषुप्ति अवस्था में तो द्वैत का पता ही नहीं रहता, उस समय न तो आश्रम रहते, न वर्ण, न कुल रहता और न जाति अर्थात् सम्पूर्ण प्रपञ्च का ही अभाव रहता है। यहां तक कि ईश्वर और जीव की भी प्रतीति नहीं रहती, बल्कि एक आत्मा ही आनन्द रूप से प्रकाशता है। द्वैत तो मन से ही बना है। जागृत और स्वप्न अवस्था में मन के विद्यमान होने से द्वैत की प्रतीति रहती है तथा जब सुषुप्ति में अविद्यांश में और समाधि में ब्रह्म प्रकाश में मन लय हो जाता है, द्वैत का

अभाव हो जाता है। गौड़पादीय कारिका में भी कहा है:--

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा।

'जो पदार्थ आदि और अन्त में नहीं है, वह वर्तमान में भी वैसा ही है अर्थात् नहीं है।' इस रीति से भी द्वैत्य का मिथ्यापना ही सिद्ध होता है, क्यों कि सृष्टि के पहिले और अन्त में तथा जागृत और स्वप्न अवस्था के पहिले और अन्त में एवं अज्ञान अवस्था के पहिले और अन्त में द्वैत नहीं रहता।

पूर्वोक्त विवेचन से यह सिद्ध हो चुका कि ब्रह्म सद्वितीय नहीं है, किन्तु अद्वितीय है। अब यह दिखलाते हैं कि ब्रह्म-सत्ता जाति वाला नहीं है, वल्कि सत्यस्वरूप है। इसमें प्रथम तो श्रुति ही प्रमाण है—**सत्यं ज्ञान मनन्तं ब्रह्म।** 'सत्यं, ज्ञान तथा अनन्त ब्रह्म है'। दूसरे यदि ब्रह्म को सत्य-स्वरूप नहीं मानें तो जगत का अधिष्ठान नहीं होगा क्योंकि मिथ्या पदार्थ का अधिष्ठान मिथ्या पदार्थ नहीं होता है, वल्कि सत्य पदार्थ ही होता है, और श्रुति में ब्रह्म को जगत का अधिष्ठान कहा गया है। जैसे:—**सर्वं खल्विदं ब्रह्म।** 'यह सब [प्रपञ्च] निस्सन्देह ब्रह्म है।' जिस प्रकार यह कहने से कि "यह चान्दी सीपी है" यह सिद्ध होता है कि मिथ्या चान्दी का अधिष्ठान सीपी है क्योंकि मिथ्या चान्दी सत्य सीपी में ही प्रतीत होती है। उसी प्रकार यह मिथ्या जगत एक सत्य ब्रह्म में ही प्रतीत होता है, इसलिये ब्रह्म जगत

का अधिष्ठान है। स्मृतियां भी कहती हैं:—"यत्सत्वात्मृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाहे र्भ्रमं" । "येन सर्वमिदं ततम्"। "तावत्सत्य जगद्भाति शुक्तिका रजतं यथा। यावन्नज्ञायेत ब्रह्म सर्वाधिष्ठानमद्वयम्" ॥ 'जिसकी सत्ता से यह सम्पूर्ण जगत झूठा होता हुआ भी सत्य सा प्रतीत होता है, जैसे रस्सी में सर्प की भ्रान्ति हो जाती है।' 'जिस परमात्मा के द्वारा यह सब व्याप्त है (प्रतीत हो रहा है)'। 'शुक्ति (सीपी) में चांदी की तरह तभी तक जगत प्रतीत हो रहा है, जब तक सबका अधिष्ठान अद्वैत ब्रह्मका ज्ञान नहीं है।' पूर्वोक्त प्रकार से सिद्ध हो गया कि असत्य जगत् का अधिष्ठान ब्रह्म ही है, इसलिए वह सत्य है। यदि ब्रह्म को असत्य मान भी लें तो उसका कोई सत्य अधिष्ठान अवश्य मानना पड़ेगा क्योंकि यह नियम ही है कि मिथ्या पदार्थ बिना सत्य अधिष्ठान के नहीं रह सकता। यदि जगत को अधिष्ठान मान लें, तो ठीक नहीं होगा क्योंकि वह स्वयं मिथ्या है। तब यह पता नहीं लगता कि ब्रह्म का अधिष्ठान कौन है? यदि यह कहो कि ब्रह्म अपना आश्रय स्वयम् अपने ही है, तो आत्माश्रय दोष की उत्पत्ति होगी। अपनी उत्पत्ति तथा स्थिति का हेतु स्वयं होना आत्माश्रय दोष कहलाता है, जो कि असम्भव है। यदि कहो कि ब्रह्म का आश्रय दूसरा ब्रह्म है, तो यह प्रश्न

होता है कि उसका आश्रय कौन है ? यदि कहा जाय कि पहला ब्रह्म है, तो अन्योन्याश्रय दोष होगा। जहां परस्पर एक दूसरे का आश्रय हो वहां अन्योन्याश्रय दोष होता है। यदि यह कहा जाय कि उसका अधिष्ठान [आश्रय] तीसरा ब्रह्म है, तो हम पूछते हैं कि उस तीसरे का कौन आश्रय है ? यदि मान लें कि पहला है, तो चक्रिका दोष की उत्पत्ति होती है। जो पहला का दूसरा, दूसरे का तीसरा और फिर तीसरे का आश्रय पहला हो, तो उसे चक्रिका दोष कहते हैं। फिर यदि कहा जाय कि उस तीसरे ब्रह्म का आश्रय चौथा ब्रह्म है, तो अनवस्था दोष की प्राप्ति होती है। अर्थात् किसी एक अधिष्ठान का निश्चय न हो सकेगा, बल्कि चौथे के बाद पांचवा, पांचवें के उपरान्त छठां इत्यादि आश्रय होते जायँगे। इसलिये ब्रह्म को ही सर्वाधिष्ठान तथा सत्य मानना पड़ेगा। फिर मोक्ष काल में ब्रह्मरूप से स्थित होकर पुनः इस मृत्यु रूप संसार में नहीं आना पड़ता है; इस प्रकार श्रुति तथा शास्त्रों में कहा गया है। यदि ब्रह्म मिथ्या होगा, तो मोक्ष भी मिथ्या हो जायगा; और फिर मिथ्या संसार में लौटना पड़ेगा, इससे ब्रह्म सत्य है। पूर्वोक्त रीति से यह सिद्ध हुआ कि ब्रह्म सत्यस्वरूप है, अब यह दिखलाते हैं कि ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है। इसमें प्रथम तो श्रुति ही प्रमाण है। यथाः—सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। यदि ब्रह्म को ज्ञान स्वरूप न माना जाय, तो यह सम्पूर्ण जगत अन्धकारमय हो जायगा

और इसका नियामक कोई भी नहीं रहेगा, क्योंकि सम्पूर्ण प्राणियों के अनन्त जन्मों के शुभाशुभ कर्मों के ज्ञान के बिना उनको ऊँच नीच योनियों में जन्म देकर कर्म-फल में नियोजित [प्रेरित] करना कैसे हो सकता है ? और श्रुति कहती है कि:-**'साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च'** । 'ईश्वर सबके कर्मों का साक्षी, चैतन्य [ज्ञानस्वरूप] और निर्गुण है।' तथा:--**'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति'** । 'उस परमात्मा के प्रकाश [ज्ञान या चैतन्यता] से यह सम्पूर्ण जगत प्रकाशित है।' इससे भी यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है। यदि परमात्मा ज्ञान स्वरूप न होगा, तो अपने अज्ञान की निवृत्ति के लिए उस परमात्मा को पाने के लिए कोई भी इच्छा नहीं करेगा, क्योंकि कारण स्वरूप अज्ञान की निवृत्ति से ही सकल दुःख की निवृत्ति रूप मोक्ष कहा गया है और ज्ञान स्वरूप परमात्मा को प्राप्त करके ही अज्ञान की निवृत्ति होती है। फिर यदि ब्रह्म ज्ञानस्वरूप न होगा, तो उसकी प्राप्ति के लिए जितने साधन हैं, वे सभी निष्फल हो जायंगे। साधन के निष्फल हो जाने से साधन के कथन करने वाले शास्त्र भी मिथ्या हो जायंगे, और श्रुति-शास्त्र का मिथ्यापना किसी आस्तिक को मान्य नहीं है। अतः ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है।

अब ब्रह्म के आनन्द स्वरूप का वर्णन करते हैं। यदि

वह ब्रह्म आनन्द स्वरूप नहीं होता, तो सभी पदार्थ दुःखमय हो जाते, क्यों कि देश, काल तथा वस्तु, इन तीन परिच्छेद वाले तथा जड़ और मिथ्या होने से जगत के सम्पूर्ण पदार्थ दुःखरूप ही हैं; परन्तु उस आनन्द स्वरूप ब्रह्म के व्यापक होने से सुख रूप प्रतीत होते हैं। यही कारण है कि सर्प भी सर्पिणी को प्रिय लगता है, और शास्त्र में भी कहा है किः—

'ब्रह्मानन्द समुद्र के एक विन्दु मात्र से सम्पूर्ण लोक सुखी हैं।" यदि ब्रह्म सुख स्वरूप नहीं होता तो श्रुति ऐसा क्यों कहतीः -"आनन्दो ब्रह्म' आनन्दो ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन्"। 'आनन्द-स्वरूप ब्रह्म है, 'आनन्दस्वरूप ब्रह्म को जानने वाला कभी भी भय को प्राप्त नहीं होता। ब्रह्मसूत्र में भी कहा हैः—"आनन्द-मयोऽभ्यासात्'। ब्रह्म आनन्दमय है, अभ्यास से तथा दुःख की अत्यन्त निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति रूप जो मोक्ष का स्वरूप है; उसके लिए मुमुक्षु जन ब्रह्म की प्राप्ति निमित्त प्रयत्न क्यों करते? इत्यादि। अनुमान, प्रमाण तथा युक्तियों से सिद्ध होता है कि ब्रह्म आनन्द स्वरूप है। पूर्वोक्त विवेचन से परमात्मागत संशय [असम्भावना] की निवृत्ति के लिए मनन का प्रकार कहा गया।

———

वस्तु निर्देशात्मक-
मंगलाचरण ।

दोहा—सत चित आनंद रूप को,
ध्यान धरूं सविवेक ।
जेहि प्रपंच नाशै सकल,
सो स्वरूप मम एक ॥ ३८ ॥

दोहार्थ—जो सम्पूर्ण प्रपंच [अज्ञान, तथा अज्ञानजनित जगत] का नाश करने वाला है, उस सच्चिदानन्दरूप परब्रह्म का ध्यान धरता हूँ वह अद्वितीय ब्रह्म मेरा स्वरूप ही है ॥ ३८ ॥

शंका—बहुत से लोग तो गणपति, विष्णु, शिव इत्यादि का मंगलाचरण करते हैं, आप ब्रह्म का ही क्यों करते हैं ?

समाधान—गणपति आदि सभी एक ब्रह्म के हो विवर्त हैं अर्थात् ब्रह्म में ही कल्पित हैं, अतः ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं। जैसे एक ही समुद्र की अनेक तरङ्गे होती हैं अतएव उन तरंगो में तथा समुद्र में कुछ अन्तर नहीं कहलाता, वैसे ही ब्रह्म-रूपी समुद्र के गणपति आदि तरङ्गे हैं। अतएव ब्रह्म और उनमें कुछ अन्तर नहीं है। इसलिए एक ब्रह्म के ही मंगलाचरण से उन सब का मंगलाचरण हो जाता है।

शंका—सत्, चित्, आनन्द ये तो तीन हैं। आपने इन्हें एक ही अपना स्वरूप क्यों कहा?

समाधान—जैसे रक्तता, उष्णता तथा दाहकता मिलकर एक ही अग्नि का स्वरूप होता है। इन तीनों में से किसी एक को स्वतन्त्र नहीं कह सकते, अर्थात् ये तीनों एक ही वस्तु में रहते हैं, वैसे ही सत्, चित् और आनन्द यह तीन मिलकर एक ब्रह्म का ही स्वरूप होता है। यह बात मैंने अभी परमात्मागत संशय के मनन में कही है।

शंका—आपने उस सच्चिदानन्द ब्रह्म को अपना रूप क्यों कहा?

समाधान—यह जो सच्चिदानन्द ब्रह्म का स्वरूपलक्षण है, वह मुझ शुद्ध स्वरूप में ही घटता है। इसलिए वह मुझसे भिन्न नहीं है और अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित जो सांसारी जीव है, वह तो मिथ्या है, अतएव वह मैं नहीं हूं। स्वरूपलक्षण वह है, जो स्वरूप को छोड़ कर पृथक कभी न रहे। जैसे घट का स्वरूपलक्षण मिट्टी है, जो घट को छोड़ कर पृथक नहीं रह सकती, और तटस्थ लक्षण वह है, जो स्वरूप में कभी रहे और कभी न रहे तथा उसके अभाव से स्वरूप का अभाव न हो। जैसेः—किसी मकान के दरवाजे पर सुन्दर तोता है, तो वह तोता उस मकान का तटस्थ लक्षण हुआ, इस प्रकार ब्रह्म में 'सच्चिदानन्द' तो स्वरूप लक्षण है तथा सृष्टि, स्थिति और लय यह तटस्थ लक्षण है, क्योंकि उस ब्रह्म का सच्चि-

दानन्द स्वरूप होने से वह उसको छोड़ कर पृथक नहीं रह सकता, और सृष्टि, स्थिति तथा लय तो ब्रह्म में कल्प के आरम्भ से तथा अज्ञान काल में रहते हैं और प्रलय तथा ज्ञान के हो जाने पर इनका अभाव हो जाता है। इसलिए ये तटस्थ लक्षण हैं।

अब आत्मगत संशय की निवृत्ति के लिए पुनः मनन दिखलाते हैं:—

पुनः मननः—

आत्मा शरीर नहीं हो सकता, क्यों कि यह इसका द्रष्टा है। द्रष्टा दृश्य से सदा पृथक ही रहता है, तथा द्रष्टा चैतन्य और दृश्य जड़ होता है। आत्मा और शरीर के भेद को स्वामी शंकराचार्य जी ने अपरोक्षानुभूति में अनेक प्रकार से कहा है। यथाः—

आत्मा विनिष्कलो ह्येको देहो बहुभिरावृतः।
तयोरैक्यं प्रपश्यन्ति किमज्ञानमतः परम् ॥

आत्मा कला (अवयव या अंश) रहित तथा एक है और देह अस्थि, मांस, रुधिर इत्यादि बहुत पदार्थों से जकड़ा हुआ है। इन दोनों की जो एकता देखते हैं; इससे दूसरा अज्ञान क्या होगा ?

आत्मा नियामकश्चान्तर्देहो बाह्यो नियम्यच।
तयोरैक्यं प्रपश्यन्ति किमज्ञानमतः परम् ॥

'आत्मा नियामक (नियम में लगाने वाला) और अन्तर्वर्ती है तथा देह बाह्य और नियम्य (नियम में लगने वाला) है। इन दोनों की जो एकता देखते हैं; इससे दूसरा अज्ञान क्या होगा ?

आत्मा ज्ञान मयः पुण्यो देहो मांसमयोऽशुचिः।
तयो रैक्यं प्रपश्यन्ति किमज्ञानमतः परम् ॥

'आत्मा ज्ञानमय तथा पवित्र है और देह मांसमय तथा अपवित्र है। इन दोनों की जो एकता देखते हैं, इससे दूसरा अज्ञान क्या होगा ?

आत्मा प्रकाशकः स्वच्छो देहस्तामस उच्यते।
तयोरैक्यं प्रपश्यन्ति किमज्ञानमतः परम् ॥

'आत्मा सबका प्रकाशक तथा निर्मल है और देह तमोमय (भूतों के तमोगुण से बना हुआ) कहा जाता है। इन दोनों की जो एकता देखते हैं, इससे दूसरा अज्ञान क्या होगा ?

आत्मा नित्योहि सद्रूपो देहोऽनित्योह्यसन्मयः।
तयोरैक्यं प्रपश्यन्ति किमज्ञानमतः परम् ॥

'आत्मा नित्य तथा सत्य स्वरूप है और देह अनित्य तथा असत्य है, इन दोनों की जो एकता देखते हैं, इससे दूसरा अज्ञान क्या होगा ?

अब यह दिखलाते हैं कि आत्मा विकारवान् नहीं है, बल्कि अविकारी [कूटस्थ] है आचार्यों ने कूटस्थ का अर्थ यों कहा है:—'कूट' नाम है लोहार की अहरन [निहाय] का और 'स्थ' का अर्थ होता है स्थित; जो अहरन की तरह स्थित हो, उसे कूटस्थ कहते हैं। तात्पर्य—जैसे अहरन पर लोहार अनेक प्रकार का पदार्थ बनाता रहता है; परन्तु अहरन विकारवान् नहीं होता है; [किन्तु ज्यों का त्यों स्थित रहता है] बल्कि वे पदार्थ ही विकारवान् हुआ [बिगड़े, बने] करते हैं। उसी प्रकार मन रूपी लोहार विषय रूपी पदार्थों को आत्मा रूपी अहरन पर गढ़ा [बनाया] करता है। अर्थात् उसकी सत्ता से सब कुछ किया करता है; परन्तु आत्मा विकारवान् नहीं होता है, बल्कि मन तथा विषय ही विकारी होते रहते हैं।

अथवा कूटस्थ का अर्थ यों कीजिए:—'कूट' नाम है मिथ्या का और 'स्थ' नाम स्थित का है, मिथ्या जो माया है, उसके समीप में जो अविकार रूप से स्थित रहे उसे कूटस्थ कहते हैं। तात्पर्य—आत्मा की सन्निधिमात्र से माया अनेक प्रकार के मिथ्या पदार्थों [जगत] को रचा करती है, परन्तु उस आत्मा में कुछ भी विकार नहीं आता इसलिए आत्मा कूटस्थ है।

अब यह दिखलाते हैं कि आत्मा आनन्दस्वरूप है। यह नियम ही है कि आनन्द रहित पदार्थ में किसी को भी प्रेम

नहीं होता; किन्तु जिससे आनन्द प्राप्त होता है, उसी में प्रीति होती है। इस रीति से परम प्रेमास्पद [परम प्रीतिका विषय] होने से अपना आत्मा आनन्दस्वरूप है, क्यों कि अपना आत्मा किसी को कभी अप्रिय नहीं होता। जो अपने धन तथा पुत्र के मित्र में प्रेम होता है, वह पुत्र के लिए होता है; और पुत्र में जो प्रेम होता है, वह धन तथा पुत्र के मित्र के लिए नहीं होता क्यों कि प्राणी पुत्र के लिए धन तथा पुत्र के मित्र का भी परित्याग कर देते हैं और पुत्र में जो प्रेम होता है, वह अपने शरीर के लिए होता है तथा अपने शरीर में जो प्रेम होता है, वह पुत्र के लिए नहीं होता, क्योंकि शरीर पर आपत्ति आ जाने पर मनुष्य पुत्र का भी त्याग कर देते हैं। शरीर में जो प्रेम होता है, वह इन्द्रियों के लिए होता है तथा इन्द्रियों में प्रेम शरीर के लिए नहीं होता; क्यों कि प्राणी शरीर पर चोट को सहकर नेत्र, घ्राण आदि को बचा लेते हैं। इन्द्रियों में जो प्रेम होता है, वह प्राण के लिए होता है तथा प्राण में प्रेम इन्द्रियों के लिए नहीं होता, क्यों कि प्राणी अन्धा, वहिरा इत्यादि होकर भी जीना (प्राण रखना) चाहते हैं तथा जो प्राण में प्रेम होता है, वह आत्मा के लिए होता है और आत्मा में प्रेम प्राण के लिए नहीं होता, क्यों कि रोग से ग्रसित हुआ अत्यन्त पीड़ित प्राणी कहता है कि:- यह दुःख अब नहीं सहा जाता इस लिए अब प्राण छूट (निकल) जाता तो अच्छा होता।

अब आप देखें, प्राणी अपने आत्मा के लिये धन तथा अपने पुत्र के मित्र, पुत्र, शरीर, इन्द्रिय तथा प्राण का त्याग कर देते हैं, परन्तु आत्मा का त्याग किसी के लिए भी नहीं करते। इसलिए आत्मा सबसे अधिक प्रिय है और सबसे अधिक प्रिय होने से यह सिद्ध होता है कि आनन्द स्वरूप है। क्योंकि यह नियम ही है कि जिसमें सबसे अधिक आनन्द रहता है, उसमें अधिक प्रीति होती है।

अब यह दिखलाते हैं कि आत्माज्ञान [चैतन्य] स्वरूप है। जो यह आत्मा चैतन्य स्वरूप नहीं होता, तो शरीर, इन्द्रियादि जड़ पदार्थ किसी भी कर्म में प्रवृत्त नहीं होते, क्यों कि इस लोक में यह देखा जाता है कि चेतन सारथी तथा घोड़े के बिना जड़ रथ चलने में स्वयम् प्रवृत्त नहीं होता। यदि आत्मा ज्ञानस्वरूप नहीं होता, तो तीन शरीर तथा तीन अवस्थाओं का ज्ञान कैसे करता? और सुषुप्ति अवस्था में न तो अन्तःकरण रहता है और न इन्द्रियां रहती हैं, तो भी आत्मा अपने चैतन्यता से स्वयं प्रकाशित रहता हुआ अज्ञान तथा सुख को प्रकाशता (जनता) है, क्यों कि पुरुष जाग कर कहता है कि 'मैं बहुत सुख में रहा और कुछ भी खबर न रही।' यदि सुषुप्ति अवस्था में सुख तथा अज्ञान का प्रकाश (अनुभव) नहीं करता, तो जाग कर उनका स्मरण क्यों करता? अनुभव की हुई वस्तु की ही तो स्मृति होती है? भगवान् ने भी गीता में कहा है:—

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः ।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत ॥

'हे भारत ! जैसे एक ही सूर्य इस सम्पूर्ण जगत को प्रकाशित करता है, वैसे एक ही क्षेत्रज्ञ (आत्मा] सम्पूर्ण क्षेत्रों [शरीरों] को प्रकाशता है । पूर्वोक्त प्रकार से यह सिद्ध हो गया कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है ।'

अब यह दिखलाते हैं कि आत्मा सत् स्वरूप है । यदि आत्मा सत्य स्वरूप नहीं होता, तो इस मिथ्या शरीर की प्रतीति क्यों होती ? उसी की सत्ता से तो यह मिथ्या शरीर सत्य सा प्रतीत हो रहा है, और आत्मा को सत् न मानने से कृतनाश तथा अकृताभ्यागम; इन दो दोषों की उत्पत्ति होगी क्यों कि यदि आत्मा असत्य होगा, तो इस वर्त्तमान शरीर के छूट जाने पर इसके किए हुए सभी शुभाशुभ कर्म विना भोगे ही नाश हो जायेंगे और कर्मों के नाश हो जाने से सभी साधन निष्फल हो जायंगे, इसी को कृतनाश दोष कहते हैं । यदि आत्मा असत्य ही है, तब तो शरीर से पहिले नहीं था । जब आत्मा पहले नहीं था, तो उसके पहले के किए हुए शुभाशुभ कर्म तथा कर्मजनित पुण्य-पाप भी नहीं है, तथा इस शरीर से किए हुए कर्मों के फल अभी प्राप्त नहीं हुए हैं; ता इस समय दुःख-सुख भोगने क्यों पड़ते हैं ? इससे यह सिद्ध होता कि कर्मों के विना किए ही दुःख-सुख मिल

रहे हैं, इसी को अकृताभ्यागम दोष कहते हैं। पूर्वोक्त इन दो दोषों से बचने के लिए हमें बाध्य होकर आत्मा को सत्य मानना पड़ेगा। इस प्रकार आत्मा को कर्त्ता तथा भोक्ता मानने वाले कर्म काण्डियों के सिद्धान्त से भी आत्म सद्रूप ही सिद्ध होता है। गीता में भी आत्मा की नित्यता वर्णित है।

नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।

'यह आत्मा नित्य, सर्वगत, स्थाणु और अचल है'।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हो गया कि आत्मा शरीर से भिन्न, कूटस्थ और सच्चिदानन्द स्वरूप है। इस प्रकार के मनन से आत्मगत संशय दूर होता है।

अब परमात्मा और आत्मा में भेद है या अभेद, इस संशय को दूर करने के लिए मनन का वर्णन करते हैं:—

आत्मा और परमात्मा में भेद नहीं है। इस विषय में प्रथम तो श्रुति ही प्रमाण है। यथा:–**'तत्वमसि'**, **'अयमात्मा ब्रह्म'**, **'अहं ब्रह्मास्मि'**, **'प्रज्ञानमानन्दं ब्रह्म'**, **इत्यादि**। 'वह (परमात्मा) तू [जीव] है', 'यह आत्मा ब्रह्म है', 'मैं ब्रह्म हूँ', 'आनन्द स्वरूप जो प्रज्ञान (आत्मा) है, वही ब्रह्म है', इत्यादि। यदि आत्मा से भिन्न ब्रह्म को मानें, तो ब्रह्म अनात्मा हो जायगा। जो पदार्थ अनात्म हैं वे कार्य, जड़ तथा मिथ्या हैं। अतः ब्रह्म भी कार्य, जड़ तथा मिथ्या हो जायगा। परन्तु यह बात किसी भी आस्तिक

को मान्य नहीं है तथा शास्त्रों में भी ब्रह्म को अनादि, चैतन्य तथा सत्य स्वरूप कहा गया है, इससे आत्मा से परमात्मा भिन्न नहीं है। यदि ब्रह्म से आत्मा को भिन्न मानें, तो आत्मा अव्यापक हो जायगा, क्योंकि ब्रह्म का अर्थ होता है व्यापक। जो पदार्थ व्यापक नहीं होता है, वह देश परिच्छेद वाला अवश्य होता है। अर्थात् किसी देश में होता है, और किसी देश में नहीं होता है, तथा जो पदार्थ देश परिच्छेद वाला होता है, वह काल परिच्छेद वाला अवश्य होता है, अर्थात् किसी काल में होता है और किसी काल में नहीं होता है। जो पदार्थ काल परिच्छेद वाला होता है, वह वस्तु परिच्छेद वाला भी अवश्य होता है। अर्थात् वह सब वस्तुओं में नहीं रहता अथवा उस पदार्थ से अन्य सभी पदार्थ भिन्न होते हैं और जो पदार्थ देश, काल तथा वस्तु परिच्छेद वाला होता है, वह मिथ्या ही होता है। इस रीति से ब्रह्म से आत्मा को भिन्न मानने से वह मिथ्या हो जायगा और आत्मा की मिथ्यापना किसी भी आस्तिक को मान्य नहीं है। अर्थात् सभी आस्तिक आत्मा को सत्य ही मानते हैं। इस प्रकार प्रमाण तथा युक्तियों से भी आत्मा और परमात्मा का अभेद ही साबित होता है। आचार्य ने भी भेद मानने वाले के लिए भय कहा है:—

स्वल्पमप्यन्तरं कृत्वा जीवात्मपरमात्मनोः।
यः सन्तिष्ठति मूढात्मा भयं तस्याभिभाषितम्॥

'जो मूर्ख जीवात्मा और परमात्मा में थोड़ा सा भी भेद करके स्थित होता है, उसके लिए श्रुति ने भय कहा है'। यथा—'द्वितीयाद्वै भयं भवति'। 'दूसरे के द्वारा दूसरे को अवश्य भय होता है'। इससे भी अभेद (अद्वैत) ही सिद्ध होता है। अब मोक्ष कर्म से होता है या आत्मा और परमात्मा के अभेद ज्ञान से? इस संशय की निवृति के लिए मनन दिखलाते हैं:—

मोक्ष ज्ञान से होता है, कर्म से नहीं:—

जैसे इस लोक में कृषि आदि कर्म तथा उनके फल अन्नादि अनित्य ही देखे जाते हैं, वैसे ही यज्ञादि कर्म और उनके फल स्वर्गादि अनित्य होते हैं, तथा मोक्ष तो नित्य है, इस-लिए कर्म से मुक्ति नहीं हो सकती। कर्म के फल चार प्रकार के होते हैं। जैसे:-किसी लोक की प्राप्ति, किसी पदार्थ का दूसरे रूप में हो जाना, मल की निवृत्ति और किसी पदार्थ में दूसरे रंग का आ जाना। इस रीति से आत्मा कोई लोक नहीं है कि जिसकी प्राप्ति के लिए कोई कर्म किया जाये। यदि यह कहें कि जैसे चावल के पकाने से उसका दूसरा रूप भात हो जाता है, वैसे ही आत्मा का दूसरा रूप हो जाना मुक्ति है, सो ठीक नहीं, क्योंकि यह आत्मा तो निरवयव (अङ्गों से रहित) होने के कारण अविकारी है, अतः इसका परिणाम अर्थात् दूसरा रूप नहीं हो सकता।

बहुत से लोग उपासना द्वारा आत्मा का विष्णु आदि के रूप से हो जाना मोक्ष मानते हैं, यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि ये विष्णु आदि के रूप मायिक होने से ये धर्म मायातीत आत्मा के नहीं हो सकते। यदि यह कहें कि कर्म के द्वारा आत्मा का मल साफ हो जाना चाहिए, सो ठीक नहीं, क्योंकि आत्मा का शुद्ध स्वरूप होने से, उसमें थोड़ा भी मल नहीं है। जैसे श्रुति कहती है :—शुद्धमपापविद्धम् 'आत्मा पाप रहित शुद्ध है।' हां अन्तःकरण में पाप रूपी विकार रहता है, उसकी निवृत्ति के लिए निष्काम कर्म की आवश्यकता है, परन्तु जिज्ञासु को उसकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह ब्रह्म जिज्ञासा से पहले ही निष्काम कर्म और उपासना के द्वारा अपने अन्तःकरण को शुद्ध कर चुका है तभी तो उसको ब्रह्मतत्त्व जानने की उत्कट इच्छा हुई है। इस विषय में वेदान्त, दर्शन में भी कहा है :—अथातो ब्रह्म जिज्ञासा, अर्थात् बहिरंग साधन यज्ञादि कर्म तथा अंतरंग साधन साधन चतुष्टय करने के बाद ब्रह्म-जिज्ञासा (ब्रह्म को जानने की इच्छा) करे। पूर्वोक्त रीति से यह सिद्ध हो चुका कि मुक्ति के लिए किसी भी प्रकार का कर्म उपयोगी नहीं हो सकता। ज्ञान भी तो केवल अज्ञान रूप आवरण के दूर होने के ही लिए है। आवरण के दूर हो जाने पर ब्रह्म तत्त्व स्वयं प्रकाशता है। चूंकि सभी कर्म आनन्द की प्राप्ति तथा दुःख

की निवृत्ति के लिए किये जाते हैं। इसलिए आत्मा को सुख प्राप्ति के लिए कर्म करने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह स्वयं आनन्द स्वरूप है और सुख स्वरूप होने से आत्मा में दुःख का अत्यन्ताभाव है; अतः दुःख की निवृत्ति के लिए भी कर्म करने की किंचित मात्र भी आवश्यकता नहीं है। जीवों को अनादि काल से जो यह भ्रम होरहा है कि "मैं सुख स्वरूप नहीं हूं, बल्कि अज्ञानी एवं बन्धन में हूँ" इस प्रकार के भ्रम का मूल कारण अपने स्वरूप का अज्ञान ही है। वह अज्ञान अपने आत्म स्वरूप के विचार (ज्ञान) से ही दूर होता है, और अज्ञान का दूर हो जाना ही मुक्ति कहलाती है, क्योंकि विचार करने से वस्तु का भली भांति ज्ञान हो जाता है, और वस्तु के ज्ञान हो जाने पर मिथ्या भ्रम दूर हो जाता है। इसी पर श्री मच्छंकराचार्य जी स्वामी ने विवेक चूणामणि में कहा है।

चित्तस्य शुद्धये कर्म न तु वस्तूपलब्धये ।
वस्तुसिद्धिर्विचारेण न किंचित् कर्म कोटिभिः ॥१॥

न योगेन न सांख्येन कर्मणा नो न विद्यया ।
ब्रह्मात्मैकत्व बोधेन मोक्षः सिध्यति नान्यथा ॥२॥

बदन्तु शास्त्राणि यजन्तु देवान्
कुर्वन्तु कर्माणि भजन्तु देवताः ।

आत्मैक्य बोधेन विना विमुक्ति-
र्न सिध्यति ब्रह्मशतान्तरेऽपि ॥३॥

'चित्त की शुद्धि के लिए ही कर्म हैं, वस्तु [ब्रह्म तत्त्व] की प्राप्तिके लिए नहीं । वस्तु [ब्रह्म] की प्राप्ति तो विचार के द्वारा होती है, करोड़ों कर्मों से नहीं ॥१॥ मोक्ष न योग से सिद्ध होता है न सांख्य से, न कर्म से और न विद्या से, वह केवल ब्रह्मात्मैक्य-बोध [ब्रह्म और आत्मा की एकता के ज्ञान] से ही होता है; दूसरे उपाय से नहीं ॥२॥ भले ही कोई शास्त्रों की व्याख्या करें, देवताओं का पूजन करें, कर्मों को करें अथवा देवताओं को भजें, परन्तु ब्रह्म और आत्मा की एकता का बोध के बिना सौ कल्प में भी मुक्ति नहीं हो सकती ॥३॥ श्रुति ने भी कहा है:—ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः । 'ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती ।' और भी कहा है :—कर्मणा बध्यते जन्तु-र्ज्ञानेन प्रमुच्यते, 'प्राणी कर्म से बंधते हैं और ज्ञान से मुक्त होते हैं ।' पूर्वोक्त दृष्टान्त, प्रमाण एवं युक्तियों से यह सिद्ध हो गया कि कर्म से मुक्ति [मोक्ष] नहीं हो सकती, बल्कि ज्ञान से ही हो सकती है ।

अब यह संशय होता है कि मुक्ति ज्ञान से तो होती है, परन्तु केवल ज्ञान से अथवा कर्म और ज्ञान इन दोनों के समुच्चय से ? इस संशय की निवृत्ति के लिए मनन दिखलाते हैं ।

मुक्ति कर्म और ज्ञान के समुच्चय से नहीं होती, बल्कि

केवल ज्ञान से ही होती है। क्योंकि ज्ञान और कर्म का प्रकाश और अन्धकार की तरह परस्पर विरोध है। जब तक अपने निष्क्रिय स्वरूप का बोध न हो जायगा और ऐसा जान पड़ेगा कि हमें कोई कर्त्तव्य है तब तक ही कर्म हो सकते हैं परन्तु जब अपने निष्क्रिय स्वरूप का बोध होकर अविद्या का नाश हो जाता है तथा देहाभिमान छूट कर कर्त्तृत्व बुद्धि नष्ट हो जाती है तब तो कर्म हो ही नहीं सकते—जैसे रामगीता में भगवान् रामचन्द्र जी ने लक्ष्मण के प्रति कहा है :

यावच्छरीरादिषु माययाऽऽत्मधी-
स्तावद्विधेयो विधिवादकर्मणाम् ।
नेतीति वाक्यैरखिलं निषिध्यत-
ज्ज्ञात्वा परात्मानमथ त्यजेत्क्रियाः ॥ १७ ॥

यदिस्म नष्टा न पुनः प्रसूयते,
कर्त्ताऽहमस्येति मतिः कथं भवेत्
तस्मात्स्वतन्त्रा न किमप्यपेक्षते,
विद्या विमोक्षाय विभाति केवला ॥ २० ॥

सा प्रत्यवायो ह्यहमित्यनात्मधी-
रज्ञप्रसिद्धा न तु तत्त्वदर्शिनः ।

तस्माद्बुधैस्त्याज्यमविक्रियात्मभि-
र्विधानतः कर्म विधिप्रकाशितम् ॥ २३ ॥

'जब तक माया से शरीरादि में आत्म बुद्धि है, तभी तक वैदिक कर्म का अनुष्ठान कर्त्तव्य है, 'नेति नेति' ऐसे वाक्यों के द्वारा सम्पूर्ण अनात्म पदार्थों का निषेध करके अपने परमात्मास्वरूप को जान लेने पर फिर सम्पूर्ण कर्मों को छोड़ दें ॥ १७ ॥

'जब एक बार नष्ट हुई अविद्या फिर उत्पन्न नहीं होती; तो इस बोधवान् पुरुष को 'मैं कर्त्ता हूँ' ऐसी बुद्धि कैसे हो सकती है ? इसलिए विद्या (ज्ञान) स्वतन्त्र है; जीव के मोक्ष के लिए किसी की भी अपेक्षा नहीं करती; वह अकेला ही प्रकाशती है (समर्थ हैं) ॥ २० ॥

मैं (कर्मों के न करने से) अवश्य पाप का भागी हूंगा, ऐसी अनात्म बुद्धि अज्ञानियों को होती है परन्तु तत्त्वदर्शियों को नहीं। इसलिए विकार रहित चित्तवाले बोधवान् पुरुषों के द्वारा वेद विहित कर्मों का विधि पूर्वक त्याग करने योग्य है ॥ २३ ॥

जिन कर्मों का शास्त्र में विधान तथा निषेध है, वे ही कर्म हैं। जैसे कहा है :— हिंसा मत करो, मद न पीओ, चोरी न करो इत्यादि' ये निषेध कर्म हैं, तथा यज्ञ करो दान करो, संध्या करो, तप करो इत्यादि

ये वेद विहित कर्म हैं। जिनका शास्त्र न विधान करता है और न निषेध करता है, वे कर्म, कर्म नहीं हैं। जैसे—चलना फिरना, खाना, पीना, मलमूत्र का त्याग करना, देखना और सुनना इत्यादि। जहां शास्त्र में यह कहा है कि:—"जैसे पक्षी अपने दोनों पक्षों के द्वारा आकाश में सुख पूर्वक उड़ता है, वैसे ही मनुष्य कर्म और ज्ञान; इन दोनों के द्वारा मोक्ष को प्राप्त कर सकता है"। इससे कर्म और ज्ञान का समुच्चय नहीं समझना चाहिए; क्यों कि अन्धकार और प्रकाश के समान परस्पर विपरीत धर्म वाले होने से ये दोनों एक काल में रह ही नहीं सकते। अतः इसका अभिप्राय यह है कि न तो ज्ञान को छोड़ कर केवल कर्म से मोक्ष मिलता है और न कर्म के बिना केवल ज्ञान (झूठ मूठ के ज्ञानी बनने) से; बल्कि पहले निष्काम कर्म करके जब अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है तो उसी शुद्धान्तःकरण में सच्चाज्ञान होता है। जब सच्चा-ज्ञान हो जाता है, तो उसी ज्ञान के द्वारा अज्ञान और अज्ञान-जनित सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं। इस विषय पर भगवान्-कृष्ण ने गीता में कहा है:—

न कर्मणामनारम्भात् नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न चसन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥

'कर्मों का आरम्भ न करने से पुरुष निष्कर्मता (कर्मों के त्याग रूप सन्यास) को प्राप्त नहीं होता है, और (कर्म द्वारा

अन्तःकरण की शुद्धि बिना] केवल संन्यास [कर्मों का त्याग] करके भी सिद्धि [ज्ञान निष्ठा रूपी मोक्ष] को नहीं पाता है' और भी कहा है:— "**ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन**"। 'हे अर्जुन! ज्ञानी पुरुष ज्ञान रूपी अग्नि से सम्पूर्ण कर्मों को भस्म कर देता है।' उपरोक्त विवेचन से यह सिद्ध हो चुका कि ज्ञान का साधन कर्म और मोक्ष का साधन ज्ञान है। इस रीति से कर्म और ज्ञान, ये दोनों क्रमशः [एक साथ नहीं] मोक्ष के हेतु हो जाते हैं। अतएव शास्त्र में कर्म और ज्ञान दोनों से मुक्ति कही गई है। इसलिए ज्ञान और कर्म का समुच्चय नहीं हो सकता।

पूर्वोक्त प्रकार से जब श्रवण तथा मनन दृढ़ हो कर प्रमाणगत तथा प्रमेयगत एवं फल [मोक्ष] गत संशय का नाश हो जाता है, तो ज्ञान की सुविचार नाम वाली दूसरी भूमिका समाप्त हो जाती है।

प्रमेय [चेतन] गत संशय की निवृत्ति के लिए मनन का स्वरूप दिखलाकर अब विपर्यय [विपरीत ज्ञान] की निवृत्ति के लिये निदिध्यासन का स्वरूप दिखलाते हैं।

निदिध्यासन

श्रवण और मनन के करने से जो यह निश्चय हुआ कि जीव और ब्रह्म का अभेद सत्य है तथा जीव और ईश्वर के अभेद ज्ञान से ही मोक्ष होता है; कर्म से नहीं। इसलिए

"अहं ब्रह्मास्मि"। अर्थात् मैं शुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप नित्य मुक्त ब्रह्म हूँ। इस प्रकार बार-बार अभ्यास [ध्यान] करे अर्थात् अनात्म वृत्तियों को हटा कर बार-बार ब्रह्माकार वृत्ति करे, इसी को निदिध्यासन कहते हैं। और यही "तनुमानसा" नाम की तीसरी भूमिका भी कहलाती है। अभ्यास करते २ जब वृत्ति ब्रह्माकार होकर देर तक ठहरने लगती है तब वह पुरुष सम्प्रज्ञात समाधि वाला कहा जाता है और उसी को ब्रह्मनिष्ठ अथवा ब्रह्मवेत्ता या ब्रह्मवित् कहते हैं; इस अवस्था में वह पुरुष "असत्त्वापत्ति" नाम की चौथी भूमिका में पहुँचा हुआ माना जाता है। इस भूमिका में आकर उस जीवन मुक्त पुरुष का पुरुषार्थ समाप्त हो जाता है तथा अब मुक्ति में कुछ संदेह नहीं रहता। जब तक प्रारब्ध रहता है तब तक ही उसका शरीर रहता है और शरीर के प्रारब्धानुसार छूटने पर वह विदेहमुक्त हो जाता है अर्थात् ब्रह्मस्वरूप से स्थित हुआ फिर शरीर धारण नहीं करता है।

जीवनमुक्त होना, शरीर पर्यन्त प्रारब्ध का भोग करना, फिर शरीर छोड़ विदेह मुक्त होना इत्यादि बातें उस ज्ञानी की दृष्टि से नहीं कही गई हैं; बल्कि और लोगों [अज्ञानियों] की दृष्टि से। जैसे श्री मत् शंकराचार्य जी ने 'अपरोक्षानुभूति' में कहा है:—

देहस्यापि प्रपञ्चत्वात्प्रारब्धावस्थितिः कुतः।
अज्ञानिजन बोधार्थं प्रारब्धं वक्ति वै श्रुतिः ॥१॥

न निरोधो न चोत्पत्तिर्नबद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्तो इत्येषा परमार्थता: ॥२॥ [श्रुति]

'देह के भी प्रपञ्च होने से प्रारब्ध की स्थिति ही कहां से हो सकती है ? प्रारब्ध का कथन तो श्रुति ने निःसन्देह अज्ञानियों के बोध के लिए कहा है ॥१॥ 'न प्रलय है, न सृष्टि है, न बन्धन है, न कोई साधक है, न कोई मुमुक्षु है, न कोई मुक्त है, परमार्थ अर्थात् यथार्थ बात तो यही है ॥२॥' कारण यह है कि ये सब बातें अज्ञानजनित हैं, जब कि उस ज्ञानी ने ज्ञान द्वारा अज्ञान का नाश कर डाला, तो उसकी दृष्टि में ये सब विषय कहां रह गये हैं ? क्या सूर्योदय के बाद अंधकार रह जाता है ? कि नींद के टूट जाने पर स्वप्न सृष्टि रह जाती है ? क्या जल के ज्ञान हो जाने से तरंग, बुलबुले, फेन, ओले, बर्फ सब जल ही नहीं हो जाते ? वैसे ही एक ब्रह्मज्ञान से यह सम्पूर्ण प्रपञ्च ब्रह्म स्वरूप ही हो जाता है।

चौथी भूमिका में भी पहुंच कर जो पुरुषार्थ नहीं छोड़ता अर्थात् चित्तवृत्ति को ब्रह्म में लीन करते २ जब वह संप्रज्ञात समाधि से असम्प्रज्ञात समाधि में पहुँच जाता है, तो वह पुरुष "असंसक्ति" नाम की पाचवीं भूमिका में चला जाता है। इस भूमिका में पहुँचा हुआ पुरुष अपने स्वरूप में ऐसा तल्लीन रहता है कि कभी अपने से उठता है अर्थात् होश में आता है और कभी दूसरे के उठाने से। इस भूमिका वाले

पुरुष को शास्त्र में 'ब्रह्म विद्वारीयान्' कहा गया है। जिस समय ध्याता, ध्यान और ध्येय रूप त्रिपुटी बनी रहती है अर्थात् 'मैं ब्रह्म का ध्यान करता हूँ' इस प्रकार की प्रतीति बनी रहती है उस समय सम्प्रज्ञात समाधि कहलाती है और जब त्रिपुटी मिट जाती है अर्थात् यह भी ज्ञान नहीं रहता कि 'अहं ब्रह्मास्मि' अर्थात् मैं ब्रह्म हूँ, तो उसे असंप्रज्ञात समाधि कहते हैं। जब पुरुष इसी "असंप्रज्ञात्" समाधि की पराकाष्ठा में पहुँच जाता है तो "पदार्थाभावनी" नाम की छठीं भूमिका में पहुंचा हुआ तथा "ब्रह्मविद्वर" संज्ञा वाला कहलाता है। उस अवस्था में वह अपने से नहीं उठता है, किन्तु दूसरे के उठाने से ही उठता है। फिर जब वह पुरुष "असंप्रज्ञात" समाधि की भी पराकाष्ठा में पहुँच जाता है, तो सातवीं "तुरीय" नाम की भूमिका में चला जाता है। उस समय वह "ब्रह्मविद्वरिष्ठ" कहलाता है। वह पुरुष किसी के उठाने से भी नहीं उठता है और उसका शरीर बहुत दिनों तक रहता भी नहीं, किन्तु बत्तीस चौंतीस दिन के बीच में ही नष्ट हो जाता है। पूर्व रीति से साधन चतुष्टय तक जो प्रथम भूमिका है, वह जिज्ञासु अवस्था की है अर्थात् प्रथम भूमिका से युक्त होने पर ही साधक जिज्ञासु कहलाता है। दूसरी तथा तीसरी भूमिका वाला तत्त्वज्ञ, चौथी, पांचवीं तथा छठीं भूमिका वाला जीवन मुक्त एवम् सातवीं भूमिका वाला विदेह मुक्त कहलाता है।

प्रथम तो ज्ञान प्राप्ति के लिए ज्ञान की प्रथम भूमिका के निमित्त साधन करने वाले पुरुष ही दुर्लभ हैं, फिर जो साधन में तत्पर हो जाते हैं, वे चौथी भूमिका तक पहुँच भी जाते हैं, परन्तु पाचवीं तथा छठीं भूमिका में पहुँचे हुए पुरुष अत्यन्त दुर्लभ हैं। जब कि पाचवीं तथा छठीं भूमिका में पहुँचे हुए ही पुरुष दुर्लभ हैं, तो सातवीं भूमिका वाले तो अत्यन्त दुर्लभतर हैं, इस विषय में कहना ही क्या है?

योगवाशिष्ठ में तो ज्ञान की सप्तभूमिकाओं का वर्णन और ही प्रकार से है, उसको मैंने "आत्म प्रकाश" के "ज्ञान की सप्त भूमिका" नामक छठें परिच्छेद में सविस्तार लिखा है। यहां तक यह सिद्ध किया गया कि जिसके पूर्व जन्म के श्रवणादि से संशय-विपर्यय दूर हो गए हों, उसके लिए श्रवणादि की कुछ आवश्यकता नहीं है, किन्तु उसको केवल ब्रह्मनिष्ठ गुरु के द्वारा 'महावाक्य' के श्रवण से ही ब्रह्मात्मा का साक्षात्कार (अपरोक्ष ज्ञान) हो जायगा। परन्तु संशय और विपर्यय से युक्त अन्तःकरण वाले को तो वेदान्त शास्त्र का श्रवणादि अवश्य करने चाहिये।

अब पूर्व प्रसंगानुसार वर्णन करते हैं—जो तीसवें दोहे के पूर्वार्द्ध में शिष्य ने यह प्रश्न किया था "क्या माया क्या जीव है, ईश कहावत कौन"। उसका उत्तर गुरु इस प्रकार दें:—

ईश्वर और जीव के स्वरूपः—

दोहा—विद्याऽविद्या है प्रकृति,
लेति ब्रह्म का भास।
ईश्वर मायाभास से,
जीव अविद्याभास ॥ ३८ ॥

दोहार्थ—एक ही प्रकृति जब विद्या [माया] और अविद्या के रूप से होकर [माया और अविद्या के द्वारा] शुद्ध ब्रह्म का आभास लेती है, तब [अपने अधिष्ठान शुद्ध ब्रह्म के सहित] माया में का आभास ईश्वर और अविद्या में का जीव कहलाता है ॥ ३९ ॥ श्रुति ने भी कहा है:— 'विद्या चाविद्या स्वयमेव भवति'। वह एक ही प्रकृति विद्या [माया] और अविद्या रूप से स्वयम् हो जाती है। तथा:—'जीवेशावाभासेन करोति'। वह प्रकृति, आभास के द्वारा जीव और ईश्वर को करती है ॥ ३९ ॥

भावार्थः—सत्व, रज, तम—इन तीन गुणों की साम्यावस्था [बराबर अवस्था] को प्रकृति कहते हैं, वह प्रकृति अनादि काल से कल्पित है और उसका ब्रह्म से कल्पित सम्बन्ध है। पूर्व काल के प्राणियों के कर्म जब अपना फल देने के लिये सम्मुख होते हैं अर्थात् जब ईश्वर जीवों के

कर्मफल को देना चाहते हैं, तो ब्रह्म की चैतन्यता से उस प्रकृति में चैतन्यता आ जाती है, बस, वह तुरन्त अपने गुणों को न्यूनाधिक करने लगती है। इसी से उसका नाम "गुण क्षोभिणी" पड़ा है जब उसमें सतोगुण बढ़ता है और रजोगुण तथा तमोगुण दब जाते हैं, तब वह माया कहलाती है, वह माया शुद्ध सतोगुण प्रधान होने से स्वच्छ है, अतएव उसमें चेतन स्वरूप ब्रह्म का आभास पड़ता है। जैसे स्वच्छ दर्पण या जल में जब सूर्य का प्रतिविम्ब पड़ता है, तो उस दर्पण अथवा ज ं में से प्रकाश [किरणें]. आता है; क्योंकि वह प्रतिविम्ब प्रकाश स्वरूप सूर्य का रहता है। उसी प्रकार उस माया में भी चेतनता आ जाती है, क्योंकि उसमें का प्रतिविम्ब चेतनस्वरूप ब्रह्म का रहता है। उस आभास [प्रतिविम्ब] के सहित वह माया; और माया का अधिष्ठान [अर्थात् जिस शुद्ध चेतन में वह माया कल्पित है, वह] यह तीनों मिल कर ईश्वर कहलाता है। उपाधि के अनुसार ही उपाधि वाले पदार्थों में गुण प्रतीत होते हैं। जैसे स्वच्छ जल, से परिपूर्ण तालाव रूप उपाधि वाले तालावाकाश में भी स्वच्छता तथा एकता प्रतीत होती है। क्योंकि वह तालाव स्वच्छ और एक है, वैसे ही माया के एक होने से वह माया उपाधि वाला ईश्वर भी एक है तथा माया के शुद्ध सतोगुण प्रधान होने से ईश्वर सर्वज्ञ एवं सर्वान्तर्यामी है और उसे अपने स्वरूप में कभी भी वन्धन प्रतीत नहीं होता, अतः वह नित्यमुक्त है।

१. पूर्वोक्त प्रकृति में जब रजोगुण और तमोगुण, ये दोनों संतोगुण को दबाने लगते हैं, तो वही प्रकृति अविद्या कहलाती है, तथा उस अविद्या में भी शुद्ध चेतन का आभास पड़ता है, तब वह आभास के सहित अविद्या अपने अधिष्ठान [आश्रय] शुद्ध चेतन के साथ जीव कहलाती है। अविद्या का परिणाम जो अन्तःकरण और अन्तःकरण का परिणाम जो बुद्धि है, उनमें भी प्रतिबिम्बित चेतन जीव ही कहलाता है। यहां भी उपाधि के अनुकूल ही जीव में धर्म प्रतीत होते हैं, जैसे:—अविद्या, अन्तःकरण और बुद्धि इनके अनेक स्वरूप हैं अर्थात् अनेक अविद्यायें अनेक अन्तःकरण और अनेक बुद्धियां हैं। अतएव जीव भी अनेक हैं तथा ये उपाधियां मलीन संतोगुण प्रधान हैं इसीलिये जीव अल्पज्ञ एवं बद्ध हैं। भाव यह कि जीवों के हृदय में रजोगुण और तमोगुण ऐसे बढ़े रहते हैं कि सतोगुण का विकाश ही नहीं होता, अर्थात् बुद्धि की वृत्ति सात्विक नहीं होती कि उस सात्विक बुद्धि से अपने शुद्ध स्वरूप [जिस चेतन का यह जीव प्रतिबिम्ब है] का ज्ञान हो, वरन् राजसी तथा तामसी वृत्तियों से आच्छादित हुआ अपने को साढ़े तीन हाथ का स्थूल शरीर ही मान लेता है और संसार तथा स्वर्ग के पदार्थों में झूठ मूठ सुख समझ कर उनके लिए कर्म एवं उपासना में तत्पर होता है और परिणाम में जन्म-मरण एवं, शोक, मोह इत्यादि दुखों से दुखी होता है।

पूर्व जो प्रकृति के परिणाम माया और अविद्या कही गई हैं, उनका अधिष्ठान (आश्रय) एकही शुद्ध चेतन है। जैसे मन्द अन्धकार में पड़ी हुई रस्सी में भ्रम वश सर्प की कल्पना हो जाती है, तो उस कल्पित सर्प का अधिष्ठान वह रस्सी ही होती है वैसे ही एक ही शुद्ध ब्रह्म में प्रकृति तथा प्रकृति के परिणाम माया और अविद्या एवं माया और अविद्याजनित सकल प्रपंच की प्रतीति अनादि काल से हो रही है।

पूर्वोक्त प्रकार से यद्यपि सबका अधिष्ठान एक ही चेतन है, तथापि मायारूपी उपाधि से ईश्वरसाक्षी (माया का अधिष्ठान) एक है, क्योंकि माया एक ही है; इसी ईश्वर-साक्षी को मायोपहितचेतन अथवा तत् पद [ईश्वर] का लक्ष्य कहते हैं। फिर वही चेतन अविद्या या अन्तःकरणरूपी उपाधि से जीव साक्षी [अविद्या का अधिष्ठान] होने से अनेक हुआ है, क्यों कि अविद्याएं अथवा अन्तःकरण अनेक हैं। इसी जीव साक्षी को अविद्या उपहित चेतन या अन्तःकरण उपहितचेतन अथवा त्वं पद [जीव] का लक्ष्य [कूटस्थ] कहते हैं।

माया और अविद्या के जितने धर्म हैं, वे सब माया और अविद्या के अधिष्ठान [मायोपहित चेतन और अविद्योपहित-चेतन] में नहीं हैं, बल्कि माया और अविद्या में के आभास जो क्रमशः ईश्वर तथा जीव हैं, उनमें ही हैं। यही कारण है कि माया का अधिष्ठान मायोपहितचेतन और अविद्या का

अधिष्ठान अविद्योपहितचेतन कहलाता है। जो उपाधि वाला तो हो, परन्तु उस उपाधि के धर्म उसमें न हों, वह उपहित कहलाता है और जिसमें उपाधि के धर्म प्रतीत हों, वह विशिष्ट कहलाता है। माया और अविद्या या अन्तःकरण में के आभास जो क्रमशः ईश्वर और जीव हैं, वे क्रमशः मायाविशिष्टचेतन तथा अविद्याविशिष्टचेतन कहलाते हैं।

जिस उपाधि के धर्म जिसमें प्रतीत हों, वह उपाधि उसका विशेषण हो जाती है, इस नियम से ईश्वर का विशेषण माया और जीव का विशेषण अविद्या होती है तथा जो उपाधि जिस पदार्थ में अपने धर्मों का आरोपण [स्थापन] न करके केवल उसको ज्ञात करावे, तो वह उपाधि उस पदार्थ की उपाधि कहलाती है; इस रीति से माया और अविद्या या अन्तःकरण ये क्रमशः ईश्वर और जीव के उपाधि हैं। पूर्वोक्त प्रकार से एक माया तत्पद (ईश्वर) का विशेषण और ईश्वर (तत्पद) का साक्षी जो ब्रह्म है उसकी उपाधि हो जाती है, वैसे ही एक ही अविद्या त्वंपद [जीव] का विशेषण और जीव [त्वंपद] का लक्ष्य जो कूटस्थ है, उसकी उपाधि हो हो जाती है।

माया में प्रतिबिम्बित ईश्वर अपने साक्षी की सत्यता से सत्य सा हुआ अपनी मायारूपी उपाधि से जगत् की सृष्टि स्थिति, लय तथा भक्तों पर अनुग्रह करता है, और धर्म के स्थापन तथा दुष्टों के लिए हर एक युग में अवतार भी वही

लेता है। वैसे ही अन्तःकरण में का प्रतिबिम्बित जीव भी अपनी साक्षी से सत्य सा होकर अन्तःकरणरूप उपाधि से पुण्य-पाप का कर्त्ता और उनका भोक्ता तथा नीच-ऊंच योनियों में जन्म का लेने वाला एवं लोकों में गमनागमन का कर्त्ता भी होता है। वास्तव में न तो माया प्रतिबिम्बित ईश्वर कर्मों के फल का दाता है और न अविद्या तथा अन्तःकरण प्रतिबिम्बित जीव कर्ता भोक्ता है। ये सब धर्म ईश्वर तथा जीव में माया तथा अन्तःकरण रूपी उपाधि से भासते हैं। ईश्वर का शुद्ध स्वरूप जो माया का अधिष्ठान ब्रह्म है, वह न तो सृष्टि आदि करता है, न प्राणियों को कर्मफल देता है, न अवतार लेता है और वह भक्तों पर अनुग्रह भी नहीं करता है। जीव का शुद्ध स्वरूप जो अन्तःकरण का अधिष्ठान कूटस्थ है, वह न कर्ता है, न भोक्ता है और न लोकों में गमनागमन ही करता है। जहां शास्त्रों में यह वर्णन पाया जाता है कि:—"एक ही वृक्ष पर दो पक्षी बैठे हैं, उनमें से एक तो उस वृक्ष के फल का भोक्ता है और दूसरा उदासीन रहता है, केवल प्रकाशता है अर्थात् देखता है"। यहां वृक्ष तो शरीर को समझना चाहिए और शुभाशुभ कर्मों को फल तथा अन्तःकरण प्रतिबिम्बित जीव को भोगने वाला पक्षी और दूसरा पक्षी जो प्रथम पक्षी को केवल प्रकाशता हुआ उदासीन रहता है, वह जीव का शुद्धस्वरूप अन्तःकरण का अधिष्ठान कूटस्थ है, न कि ईश्वर। जब साधन सम्पन्न

होने से अन्तःकरण में सतोगुण बढ़ जाता है, तब अन्तःकरण में प्रतिबिम्बित जीव को ऐसा ज्ञान होता है कि मैं कर्ता-भोक्तादि धर्मों वाला जीव नहीं हूँ, बल्कि ये धर्म अन्तःकरण के हैं। मैं तो कूटस्थ (निर्विकार) हूँ, और मुझ कूटस्थ का घटाकाश और महाकाश की तरह व्यापक शुद्ध ब्रह्म से अभेद है। इसलिए मैं शुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म हूँ । मेरे में माया तथा अविद्या कल्पित हैं अर्थात् मेरे शुद्धस्वरूप में ये मिथ्या ही प्रतीत हो रही हैं। जब माया और अविद्या मिथ्या ही हैं, तो इनमें प्रतिबिम्बित ईश्वर तथा जीव ये दोनों सत्य कैसे हो सकते हैं। इसलिये अब ज्ञान हो जाने पर मेरी दृष्टि में न कोई कर्ता है न भोक्ता और न कोई कर्मफल में प्रेरित करने वाला है । "मैं कर्मों का कर्ता और ईश्वर का भजन करने वाला हूँ तथा ईश्वर मेरा स्वामी है और मैं [जीव] सेवक हूं।" यह सब विषय मुझे भ्रान्ति से प्रतीत होते थे। इस प्रकार का अनुभव करते हुए वह साधक पुरुष सिद्ध अवस्था में पहुंच कर कृत कृत्य हो जाता है। और बोल उठता है:—

ज्ञानी का अनुभवः—

दोहा—ज्ञाता, ज्ञान, न ज्ञेय कछु,
ध्याता, ध्यान न धेय ।

कर्त्ता, भोक्ता, कर्म नहिं,
द्रष्टा दर्शन-दृश्य ॥ ४० ॥

दोहार्थ—ज्ञाता (जानने वाला) ज्ञान [जानने की सामग्री) और ज्ञेय (जानने योग्य वस्तु) कुछ नहीं है, तथा न तो ध्याता (ध्यान करने वाला) है, न ध्यान है और ध्येय [ध्यान करने योग्य पदार्थ) भी नहीं है। [वैसे ही] न कर्त्ता [करने वाला) है, न भोक्ता [कर्म-फल को भोगने वाला] है और न कर्म है तथा न कोई द्रष्टा (देखने वाला] है, न कुछ दर्शन देखना है और दृश्य [देखने योग्य पदार्थ] भी नहीं है ॥ ४० ॥

भावार्थ-जब कि "सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन" इस श्रुति के अनुसार सम्पूर्ण जगत ब्रह्म ही है, तो कौन किसको कैसे जाने? और कौन किसका कैसे ध्यान करे? तथा अद्वैत में कर्म कहां? वैसे ही किसका कौन किस प्रकार से दर्शन करे। जबतक त्रिपुटी है तभी तक उपाधि है, वास्तव में आत्म सत्ता तो अपने आप में स्थित है। पंचदशी में भी ज्ञानी का अनुभव इस प्रकार कहा है:—

व्याचक्षतां ते शास्त्राणि वेदानाऽध्यापयन्तु वा ।
येऽत्राधिकारिणो मर्त्या नाधिकारोऽक्रियत्वतः॥ १॥
एवंतज्ज्ञाततरत्वात्ते जानन् कस्माच्छुणोम्यहम् ।

मन्यन्तां संशयापन्ना न मन्येऽहमसंशयः ॥ २ ॥
विपर्ययस्तु निदिध्यासेत् किं ध्यानमविपर्यये ।

'जो इस संसार में अधिकारी हैं अर्थात् साधन अवस्था में हैं, वे शास्त्रों की व्याख्या करें अथवा वेदों को पढ़ावें। मुझ अक्रिय के लिए तो अधिकार नहीं है ॥ १ ॥ जिनको तत्त्व-ज्ञान नहीं है, वे श्रवण करें, मैं तत्त्व को जानता हुआ कैसे श्रवण करूं ? संशय से ग्रसित पुरुष मनन करें, संशय हीन होने के कारण मैं मनन नहीं करूँगा ॥ २ ॥ विपर्यय [विपरीत ज्ञान] वाले ध्यान [निदिध्यासन] करें, मुझ अविपर्यय के लिए ध्यान क्या वस्तु है ?

॥ ०९ ॥

दोहा—करना था सो कर चुका,
जान लिया जो ज्ञेय ।
नहीं अर्थ कुछ जगत से,
नहीं रहा अब धेय ॥ ४१ ॥

दोहार्थ—जो करना था, वह कर लिया और जो जानने योग्य था उसे भी जान लिया तथा (अब) संसार से [मेरा] कुछ भी मतलब नहीं रह गया और धेय (ध्यान करने योग्य पदार्थ) भी नहीं रहा ॥ ४१ ॥

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष किसके लिए कर्म में स्पृहा रक्खे? जिसके लिए कर्म किया जाता है, वह तो प्राप्त ही हो गया। यथा गीतायाम्—

"सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते"।

'हे पार्थ ! सम्पूर्ण कर्मों का समूह (एक) ज्ञान में ही समाप्त हो जाता है'। तब वह ज्ञानी पुरुष अपना लक्ष्यस्थान ब्रह्मानन्द रूपी असीम सुख पाकर तुच्छ संसार से प्रयोजन क्यों रखे ? तीसवें दोहे में शिष्य ने जो प्रश्न किया था कि "हे गुरो ! जो हमारी मुक्ति की युक्ति हो, उसे कहिए"। उसका उत्तर पूर्वोक्त प्रकार से दिया गया कि श्रवण, मनन और निदिध्यासन के द्वारा हृदय के संशय और विपर्यय की निवृत्ति पूर्वक तत्त्वमस्यादि महावाक्यों के विचार द्वारा जीवात्मा और परमात्मा की एकता का ज्ञान होकर अपने शुद्ध मुक्त एवम् निष्क्रिय सच्चिदानन्दस्वरूप का बोध हो जाने पर मुक्ति होती है, अर्थात् इस प्रकार के बोध का होना ही मुक्ति कहलाती है।

इति द्वितीयाऽञ्जलिः।

तृतीयाऽञ्जलिः

अध्यारोप और अपवाद ।

मायाः—

"अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते ।"

—'प्रपञ्च से रहित जो शुद्ध-ब्रह्म है, उसको अध्यारोप तथा अपवाद के द्वारा लखाया (समझाया) जाता है ।' इस उक्ति के अनुसार उस अनिर्वाच्य ब्रह्म का साक्षात् प्रतिपादन करने में कोई भी समर्थ नहीं है, अतः मन्दबुद्धि वाले पुरुषों के बोध के लिए यहां सृष्टि का अध्यारोप (निरूपण) करते हैं:— अनादि ब्रह्म में अनादि माया कल्पित है, वह माया शुद्ध सतोगुण प्रधान होने से स्वच्छ है, अतः 'उसमें ब्रह्म चेतन का आभास पड़ता है, और उस चिदाभास से माया चेतन सा हुई जगत का उपादान कारण होती है । शास्त्रों में माया का लक्षण इस प्रकार कहा है:-सदसद्विलक्षणमनादि ज्ञान-निवर्त्यम् अज्ञानम् (माया) । 'जो सत् और असत् से विलक्षण, अनादि और ज्ञान से निवृत्त होने योग्य हो, वह अज्ञान अर्थात् माया है ।' "सत और असत से विलक्षण" जो

केवल इतना ही कहते, तो इस लक्षण की अतिव्याप्ति जगत में होती, क्यों कि जगत भी सत् और असत् से विलक्षण 'अनिर्वचनीय है। जो जगत को सत्य कहैं, तो इसकी सुषुप्ति एवं प्रलय में निवृत्ति तथा ज्ञान काल में अत्यन्त निवृत्ति [अपरोक्ष मिथ्या] नहीं होनी चाहिए, और यदि असत्य कहें तो वन्ध्या पुत्र की तरह इसकी प्रतीति नहीं होनी चाहिए। अतएव यह जगत सत् और असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय तो है, परन्तु अनादि [उत्पत्ति रहित] नहीं है। इसलिए माया को अनादि कहा। "अनादि" जो केवल इतना ही माया का लक्षण करते, तो इसकी जीव तथा ईश्वर में अतिव्याप्ति होती, क्यों कि वेदान्त में जीव तथा ईश्वर को भी अनादि माना गया है; इसलिए "ज्ञान से निवृत होने योग्य" यह लक्षण किया। शंका—ज्ञान के हो जाने पर तो जीव तथा ईश्वर की भी मिथ्यापना कही है, तब कैसे माना जाय कि ज्ञान के होने पर केवल माया की निवृत्ति होती है ?

समाधान—यद्यपि ज्ञान होने पर जीव और ईश्वर की भी निवृत्ति होती है, तथापि ज्ञान से इनकी साक्षात् निवृत्ति नहीं होती, किन्तु साक्षात् निवृत्ति माया की ही होती है और माया की निवृत्ति होने से माया तथा अविद्या के कार्य जो क्रमशः ईश्वर और जीव हैं, उनकी निवृत्ति हो जाती है, अतएव यहां इस लक्षण की अतिव्याप्ति ईश्वर और जीव में नहीं होती।

शंका—जीव तथा ईश्वर को तो अभी अनादि कहा गया है, तो ये अविद्या तथा माया के कार्य कैसे माने जायं?

समाधान—जिस प्रकार क्षणमात्र की निद्रा [स्वप्न) में दिखलाई देने वाले प्राणियों में पिता और पुत्र की भी प्रतीति एक ही साथ होती है, परन्तु विना देश काल के प्रतीत हुए वे पिता और पुत्र सत्य नहीं होते क्यों कि वाल से भी सूक्ष्म कण्ठगत एक नाड़ी होती है, उस नाड़ी में निद्रा दोष से नाना सृष्टियां दिखलायी देती हैं। उन सृष्टियों में जो पिता-पुत्र दिखलायी देते हैं, उनके लिए पर्याप्त देश और काल नहीं हैं, क्यों कि एक केश से भी सूक्ष्म नाड़ी में साढ़े तीन हाथ के शरीर कैसे रह सकते हैं। और पहिले पिता की उत्पत्ति तथा वृद्धि होनी चाहिए, उसके वाद उसका विवाह, फिर गर्भाधान और गर्भाधान के वाद गर्भ की वृद्धि तथा पुत्र की उत्पत्ति होनी चाहिए। कहिए, इन सब व्यवस्थाओं के होने में कितने समय की आवश्यकता है? परन्तु उस स्वप्न में तो न पर्याप्त देश ही रहता है और न काल ही, इसलिए उस अवस्था के पिता-पुत्र प्रतीति मात्र मिथ्या हैं, वैसे ही जीव और ईश्वर अविद्या तथा माया के कार्य न होते हुए भी उनके कार्य प्रतीत होते हैं। माया में ऐसा सामर्थ्य ही कहा गया है—

कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम् समर्थः माया। जिसमें करने न करने, और अन्यथा करने को समर्थ हो वह माया है।

अर्थात् जो नहीं करने योग्य है, उसे करने को और जो करने योग्य हो उसे न करने को तथा हुए कार्य को अन्यथा कर देने को माया में सामर्थ्य है। आचार्यों ने और भी कहा है:—
अघटित घटना पटीयसी माया। 'जो असम्भव घटना को भी सम्भवित करे, वह माया है।' उस माया ने ही देश, काल तथा वस्तु से रहित ब्रह्म में ईश्वर, जीव तथा जगत की प्रतीत करायी है। वह जब तक बनी रहती है तब तक नानात्व जगत की निवृत्ति नहीं होती है, वरन् कारणस्वरूप माया (अज्ञान) की निवृत्ति से ही सकल प्रतीति (प्रपञ्च) की निवृत्ति होती है। माया तथा मायाजनित पदार्थ शास्त्र-दृष्टि से असत् हैं और लोकदृष्टि से सत् हैं तथा युक्ति से सत् और असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय (मिथ्या) हैं। जैसे श्रुति-शास्त्रों में कहा है-"**नेह नानास्ति किञ्चन**" "**मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैत परमार्थतः;**" "**नेति-नेति**"। **तावत्सत्य जगद्भाति शुक्तिकारजतं यथा। यवन्न ज्ञायते ब्रह्म सर्वाधिष्ठानमद्वयम्॥** 'यह नानात्व (जगत) कुछ नहीं है,' 'यह द्वैत माया मात्र है, वास्तव में अद्वैत ही है', 'यह द्वैत नहीं है।' जैसे शुक्ति (सीप) में चांदी तभी तक प्रतीत होती है, जब तक उस सीप का ज्ञान नहीं रहता, उसी प्रकार यह जगत तभी तक सत्य सा भासता

है जब तक सब [माया तथा माया जनित संसार] के अधिष्ठान ब्रह्म का ज्ञान नहीं होता। इस प्रकार शास्त्र से प्रपञ्च असत् है और लोकदृष्टि से तो प्रत्यक्ष ही सत्य प्रतीत हो रहा है तथा युक्ति यह है कि यह ज्ञान काल में असत् हो जाता है, और अज्ञान काल में सत्, इसलिए यह न सत्य है और न असत्य, बल्कि इन दोनों से विलक्षण अनिर्वाच्य है। क्योंकि यह नियम ही है कि असत्य वस्तु सत्य नहीं हो सकती और न सत्य असत्य हो सकती है।

ईश्वर अभिन्न निमित्तोपादान कारण है:—

माया यद्यपि मिथ्या है तथापि जब वह ब्रह्म के कल्पित तदात्म्य सम्बन्ध [संसर्गाध्यास] से सत्य सा हुई अपने स्वरूपाध्यास से उस शुद्ध ब्रह्म में ईश्वरता सिद्ध कर देती है, तब उस माया विशिष्ट ईश्वर में पूर्व कल्प के प्राणियों के शुभाशुभ कर्मों के अनुसार फल देने के लिये **"एकोहं बहुस्याम"**, । अर्थात् 'मैं एक होता हुआ भी बहुत हो जाऊँ' ऐसा संकल्प होता है। इसी विषय में श्रुति ने एक जगह और भी कहा है-**"तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेय"**। अर्थात् उसने इच्छा की कि मैं बहुत प्रजा वाला हो जाऊं, तब आकाश, वायु, जल, अग्नि और पृथ्वी ये एक दूसरे से क्रमशः उत्पन्न हुए। माया [प्रकृति] और ईश्वर के विषय में ऐसा समझना चाहिए। दृष्टान्त:—

दोहा—यथा भानु परकाश से,
होत सकल व्यवहार ।
परमेश्वर के सत्व से,
तैसो प्रकृति पसार ॥ ४२

दोहार्थ—जैसे [एक ही] सूर्य के प्रकाश से [संसार] के सम्पूर्ण कार्य होते हैं, वैसे ही [एक ही] परमेश्वर की सत्ता से प्रकृति [माया] के सभी पसारा [रचना] होते हैं ॥ ४२ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य के प्रकाश को पाकर प्राणी जैसा बीज बोता है, वैसा फल खाता है, न कि सूर्य देव खाने आते हैं। जैसे सूर्य अपना प्रकाश देने से कर्त्ता और फल के न भोगने से अकर्त्ता हैं, वैसे ही परमेश्वर प्रकृति को अपनी सत्ता देता हुआ भी असङ्ग है। उसकी असङ्गता में दृष्टान्तः—

दोहा—प्रकृति लोह सम आतमा,
चुम्बक सम निष्पाप।
युगल पास में युगल को
हलचल आपुहि आप ॥ ४३ ॥

दोहार्थ—प्रकृति लोह के समान और निष्पाप आत्मा चुम्बक के सदृश है; दोनों के पास में दोनों को हलचली [क्रिया] आप ही आप मची है ॥ ४३ ॥

भावार्थ—चुम्बक कुछ नहीं करता है, किन्तु ज्यों का त्यों पड़ा रहता है, परन्तु उसके समीपता से लोहे में स्वयं आकर्षितपना [क्रिया) होने लगती है, वैसे ही ईश्वर स्वयं कुछ नहीं करता है, परन्तु उसकी चेतनता से प्रकृति की साम्यावस्था [गुणों की समानता] भंग हो कर विषम सृष्टि निर्माण होने लगती है। अतएव वह अकर्त्ता [असंग] है, जैसे श्रुतिः—असंगोह्य पुरुषः। 'यह पुरुष निस्सन्देह असंग है।' प्रकृति और पुरुष के विषय में पंगु और अंधे का भी दृष्टान्त दिया जाता है। जैसे पंगु पुरुष चलता तो नहीं है, परन्तु उसमें मार्ग दिखलाने की शक्ति रहती है। और अन्धा कुछ देख नहीं सकता पर बोझा ढोने की शक्ति रहती है, वैसे ही पुरुष (ईश्वर) स्वयं कुछ न करता हुआ भी प्रकृति को केवल अपनी सत्ता देता है और प्रकृति में कुछ सत्ता नहीं है, परन्तु वह ईश्वर की सत्ता से सब कुछ कर देती है।

यह नियम ही है कि ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न इन तीन के विना कर्त्ता कोई भी कर्म नहीं कर सकता, किन्तु इन तीनों से ही कर सकता है। जैसे कुलाल [कुम्हार] घट को बनाने का ज्ञान तथा बनाने की इच्छा और प्रयत्न, इन तीन से ही घट बनाता है, अन्यथा नहीं; वैसे ही पूर्व कल्प के जीवों के शुभाशुभ कर्मों का ज्ञान, तथा उन जीवों को कर्म-फल देने के लिए सृष्टि की इच्छा और सृष्टि का प्रयत्न, इन तीनों के

द्वारा ईश्वर सृष्टि करता है। माया अपने सतोगुण भाग से तो ईश्वर में सृष्टि का ज्ञान दरशाती है और रजोगुण भाग से इच्छा तथा तमोगुण से सूक्ष्म आकाशादि तत्त्वों की उत्पत्ति रूपी प्रयत्न, अर्थात् ईश्वर, सतोगुण से ज्ञान, रजोगुण से इच्छा और तमोगुण से सृष्टि [रचना] करता है। यहां सांख्यों की जड़ प्रकृति से तथा नैयायिकों के परमाणुओं से सृष्टि का खण्डन हो गया क्यों कि प्रकृति तथा परमाणु जड़ हैं। जड़ में ज्ञान और इच्छा ये दोनों धर्म नहीं हो सकते।

'उसने इच्छा की' श्रुति के इस वाक्य से ईश्वर की निमित्त कारणता सिद्ध होती है, और "मैं बहुत हो जाऊं" इस वाक्य से उपादान कारणता। क्यों कि ईश्वर ने यह संकल्प किया कि मैं स्वयं बहुत [जगत] रूपों से हो जाऊं। जैसे मिट्टी ही घट रूप से हो जाती है, इसलिए मिट्टी को घट का उपादान कारण कहते हैं। कुम्हार अपनी इच्छा तथा अपने प्रयत्न से घट बनाता है अतः कुम्हार को घट का निमित्त कारण कहते हैं, उसी प्रकार ईश्वर अपनी इच्छा तथा अपने प्रयत्न से स्वयं जगदाकार हो जाता है, अतएव वह जगत का अभिन्न निमित्तोपादान कारण है, जैसे श्रुतिः—

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णाति च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति। यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाऽक्षरात्सम्भवतीह विश्वम् ॥

जैसे उर्णनाभि नामक जन्तु विशेष (मकड़ी) अपने शरीर से ही तन्तुओं को निकाल कर जाला बनाती है और उसे फिर खा डालती है (लय कर देती है); और जैसे पृथ्वी से औषधियां उत्पन्न होती हैं तथा पुरुष से केश एवं लोम (रोयें) स्वतः उत्पन्न होते हैं, वैसे ही अविनाशी ईश्वर से यह विश्व होता है।' इस श्रुति के अनुसार भी एक ही ईश्वर जगत का निमित्त तथा उपादान कारण सिद्ध होता है। ब्रह्मसूत्र में भी कहा है:—जन्माद्यस्य यतः। 'जिससे जन्मादि हो [वह ब्रह्म है।]' यहां जन्म से उत्पत्ति और आदि से स्थिति तथा लय समझना चाहिए। और भी श्रुतिः—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्ब्रह्मतद्विजिज्ञासस्व।

'जिससे सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिससे उत्पन्न हो कर जीवित रहते हैं और फिर जिसमें लय हो जाते हैं, वह ब्रह्म है, उसको जानने की इच्छा करो।' इस श्रुति में भी जो लय कहा गया है उससे ईश्वर की उपादान कारणता ही सिद्ध होती है क्यों कि कोई भी पदार्थ अपने उपादान कारण में ही लय होते हैं, जैसे घट तथा आभूषण नष्ट होने पर अपने उपादान कारण मृतिका [मिट्टी] तथा स्वर्ण में ही लय होते हैं। जो श्रुति केवल इतना ही कहती कि:—

'जिसमें प्राणी लय होते हैं' तो यह शंका होती कि इस जगत का उपादान कारण ईश्वर तो है, परन्तु निमित्त कारण कोई दूसरा ही होगा क्यों कि घट का उपादान कारण मृत्तिका तो होती है, परन्तु निमित्त कारण कुलाल [कुम्हार] होता है। इसलिए श्रुति ने कहा कि:--"जिससे प्राणी जीवित (स्थिति) रहते हैं" इससे जगत की स्थिति में निमित्त कारण ईश्वर ही सिद्ध होता है। इस पर यह शंका होती है कि जैसे कुम्हार मृतिका से घट को रच देता है, तो उस घट को दूसरा कोई भी स्थित कर सकता है, उसी प्रकार कोई दूसरा जगत को रचना देता होगा, तो उसको ईश्वर स्थित [पालन] करता होगा। इसलिए कहा है कि:-"जिससे उत्पति भी हो" वह ब्रह्म है। इससे सिद्ध हुआ कि जगत कि उत्पति में भी निमित्त कारण ईश्वर ही है।

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हो गया कि जगत की उत्पत्ति तथा उसका पालन एवं लय एक ईश्वर ही करता है, अतएव वह ईश्वर जगत का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। इससे भी सांख्य जो जगत का उपादान तथा निमित्त कारण प्रकृति को तथा नैयायिक परमाणुओं को उपादान कारण तथा ईश्वर की इच्छा को निमित्त कारण मानते हैं, उनका खण्डन हो गया। अब यह दिखलाते हैं कि ईश्वर के संकल्प द्वारा जो माया के तमोगुण भाग से पांचतत्त्वों की उत्पत्ति कही गयी है, उसको केवल तमोगुण से नहीं समझना चाहिए

वरन् सतोगुण और रजोगुण की न्यूनता तथा तमोगुण की प्रधानता से। उन पांच तत्त्वों से दो प्रकार की सृष्टियां हुईं।

दो प्रकार की सृष्टियां:—

दोहा—पंचीकृत इक दूसरी,
पंचीकृत से भिन्न।
बिनु पंची चैतन्य जड़,
सृष्टि अपंचीहीन ॥ ४४ ॥

दोहार्थ—सृष्टि दो प्रकार से है:—एक पंचीकृत और दूसरी पंचीकृत से भिन्न अर्थात् अपंचीकृत। बिनुपंची अर्थात् पंचीकृत से रहित अपंचीकृत के द्वारा चैतन्य [सेन्द्रिय सूक्ष्म शरीर] और अपंची हीन अर्थात् पंचीकृत से जड़ सृष्टि [स्थूल शरीर] हुई ॥ ४४ ॥

भावार्थ—स्थूल शरीर की अपेक्षा सूक्ष्म शरीर में चैतन्यता है, अतएव सूक्ष्म शरीर को चैतन्य और स्थूल शरीर को जड़ कहा। अपंचीकृत से जो सूक्ष्म शरीर कहा गया है, उसको सूक्ष्म पांच तत्त्वों से तथा पंचीकृत से जो स्थूल शरीर कहा गया है, उसको स्थूल पंच महाभूतों से समझना चाहिए। सूक्ष्म तत्त्वों से बने होने के कारण सूक्ष्म शरीर दिखलायी नहीं देता और स्थूल शरीर स्थूल तत्त्वों से बने होने के कारण प्रत्यक्ष दिखलायी देता है। ईश्वर के संकल्प

से पहिले सूक्ष्म भूत होकर, उनसे अन्तःकरण, प्राण, कर्मेन्द्रियां तथा ज्ञानेन्द्रियां रूप सूक्ष्मसृष्टि होती हैं, फिर उसके संकल्प से ही वे भूत स्थूल हो जाते हैं और प्रतीत होने लगते हैं। उन स्थूल भूतों से स्थूल शरीर [स्थूल सृष्टि] तैयार होता है। सूक्ष्म भूतों से अपंचीकृत सृष्टि इस प्रकार होती है:—

अपंचीकृत सृष्टि:—

पांचों तत्त्वों के सतोगुण से ज्ञानेन्द्रियां और रजोगुण से कर्मेन्द्रियां हुईं, जैसे आकाश के सतोगुण से श्रोत्र [कान] और रजोगुण से मुख। वायु के सतोगुण से त्वचा और रजोगुण से हाथ। अग्नि के सतोगुण से आंखें और रजोगुण से पैर। जल के सतोगुण से रसना (जिह्वा) और रजोगुण से लिङ्ग तथा पृथ्वी के सतोगुण से घ्राण [नाक] और रजोगुण से गुदा की उत्पत्ति हुई। पांचों तत्त्वों के सतोगुण मिलकर अन्तःकरण (मन, बुद्धि, चित्त, और अहंकार) हुआ और रजोगुण मिलकर प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान बने। यह तो अपञ्चीकृत सृष्टि हुई और पञ्चीकृत सृष्टि इस प्रकार है:—

पंचीकृत सृष्टि:—

आकाश के दो बराबर हिस्से हुए, पुनः दोनों में से एक को उठाकर चार हिस्से किए और चार जगह रख दिये, और

पहला आधा हिस्सा पांचवें जगह है। इसी प्रकार वायु के भी दो बराबर हिस्से कर दिये गये, फिर उनमें से एक उठाकर चार बराबर हिस्से किये, तो चार यह और पहला आधा मिल कर पांच हिस्से इस वायु के भी हो गए, अब इन पांचों भागों को आकाश के पूर्वोक्त पांच भागों में इस प्रकार मिलाएं कि दोनों तत्त्वों के जो आधे बड़े हिस्से हैं, वे एक जगह न पड़ें। पुनः शेष तीनों तत्त्वों को भी इसी प्रकार कर के उन पांचों हिस्सों में इस तरह मिलाए कि इनके भी आधे बड़े हिस्से एक जगह न पड़ें। अब पांचों में पांचों तत्त्व मिलकर स्थूल शरीर तैयार हो गया। जहां आकाश का बड़ा हिस्सा पड़ा, वहां शोक, मोह, काम, क्रोध और भय; जहां वायु का पड़ा, वहां चलन, बलन, धावन, प्रसारण और आकुञ्चन, जहां अग्नि का पड़ा, वहां क्षुधा, पिपासा, आलस्य, निद्रा और कान्ति; जहां जल का पड़ा, वहां शुक्र, शोणित, लार पसीना और मूत्र तथा जहां पृथ्वी का पड़ा वहां अस्थि, लोम, त्वचा, नाड़ी और मांस ये पांच प्रकृतियां हुईं। अस्थि से नख तथा लोम से [रोयें] केश भी समझने चाहिए। यद्यपि आकाश की पांचों प्रकृतियां अन्तःकारण को हैं, तथापि जब ये प्रकट हो जाती हैं, तो स्थूल शरीर पर भी प्रभाव पड़ कर चिन्ह प्रतीत होने लगता है। जैसे क्रोध होता है तो आंखें लाल हो जाती हैं और अधर कांपने लगते हैं इत्यादि। वास्तव में आकाश की शिराकाश, कंठाकाश, हृदयाकाश, उदराकाश

और कद्याकाश ये पांच प्रकृतियां हैं। यहां पर पंचीकृत तथा अपंचीकृत दोनों प्रकार की सृष्टियां संक्षेप में कही गयी हैं। जिसको सविस्तार देखना हो, वह मेरी लिखी हुई "प्रेम-वैराग्यादि-वाटिका" नाम की पुस्तक की "पंचीकरण" नाम की चौथी क्यारी में देख ले, वहां इन्द्रियों के देवताओं के सहित सृष्टि का विस्तार पूर्ण वर्णन है तथा स्पष्ट समझने के लिए कोष्ट [चक्र] भी दे दिये गये हैं। अब तीन शरीरों का वर्णन करता हूँ।

तीन शरीर:—

दोहा—पंचभूत से रचित जो,
स्थूल देह दरशाय।
सृष्टि-हेतु अविवेक जो,
कारण देह कहाय ॥ ४५ ॥
पर्श शब्द रस गन्ध बुधि,
कर्मेन्द्रिय मन रूप।
ज्ञानेन्द्रिय हैं आठ दश,
तत्त्वहिं लिंग स्वरूप ॥ ४६ ॥

दोहार्थ—जो पांच भूतों [स्थूल आकाशादि] से बना हुआ दिखलायी देता है, वह स्थूल शरीर है और सृष्टि का

कारण जो अविवेक [अज्ञान] है, वह कारण शरीर कहलाता है ॥ ४५ ॥

भावार्थ—यह पुरुष अज्ञान वश अपने स्वरूप को विस्मरण कर ज्यों-ज्यों पिण्ड, ब्रह्माण्डरूप दृश्य की कल्पना कर रहा है, त्यों-त्यों जगत बढ़ता जा रहा है तथा उस दृश्य में अहं-मम रूपी सम्बन्ध दृढ़ होता जा रहा है। अतः सृष्टि का कारण अपने स्वरूप की विस्मृति रूप अज्ञान ही है। अतएव अज्ञान को कारण शरीर कहा गया है। अथ सूक्ष्म शरीर को कहते हैं। [पांच] ज्ञानेन्द्रियां, [पांच] कर्मेन्द्रियां, मन बुद्धि अहंकार, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, और गंध [यही] अठारह तत्त्व लिंग [सूक्ष्म शरीर] का स्वरूप है अर्थात् इन्हीं अठारह तत्त्वों को सूक्ष्म शरीर कहते हैं ॥ ४६ ॥ कहीं—कहीं इन अठारह तत्त्वों में से मन को निकाल कर और पंच तन्मात्राओं की जगह पंचप्राणोंको रख कर सत्रह तत्त्वों का सूक्ष्म शरीर कहा गया है। यहां इन्द्रियों की चेष्टाओं को ही प्राण मान कर प्राणों को इन्द्रियों में ही समावेश कर दिया गया है। जैसे गीता के "इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतनाधृतिः" इस आधे श्लोक में प्राण को ही चेतना कहा गया है।

पुर्याष्टक शरीर:—

पूर्वोक्त सूक्ष्म शरीर को पुर्याष्टक शरीर भी कहते हैं। पुर्याष्टक का अर्थ होता है आठ वर्गों वाला। यह सूक्ष्म शरीर

आठ वर्गों वाला है। जैसे कर्मेन्द्रियां, ज्ञानेन्द्रियां, प्राण, अन्तःकरण, पंच सूक्ष्मभूत, अविद्या, काम और कर्म को छोड़ कर बाकी कर्मेन्द्रियादि का वर्णन तो पहले सूक्ष्म शरीर में ही हो चुका है । पांच तत्त्वों के विकार समझने से इनकी निवृत्ति होती है, अर्थात् यह समझें कि इनका न मैं हूँ और न ये हमारे हैं किन्तु ये भूतों के विकार हैं; इनका द्रष्टा मैं, घट द्रष्टा की तरह इनसे भिन्न हूं। अब रह गए अविद्या काम, और कर्म, इनमें से अविद्या के मुख्य कार्य चार हैं। उन कार्यों को भी अविद्या ही कहते हैं (इसी ग्रन्थ की पहिली अञ्जलि में हम कह चुके हैं कि कार्य के स्थान में कारण को भी कहा जाता है) । वे कार्य ये हैं—अनित्य में नित्य बुद्धि, दुख में सुख बुद्धि, अपवित्र में पवित्र बुद्धि और अनात्म में आत्मबुद्धि । अनित्य जो यह लोक तथा स्वर्गादि लोक हैं, उनको नित्यमान कर उन्हीं की प्राप्ति से नित्य सुख की आशा करनी तथा उनकी प्राप्ति निमित्त यज्ञादि कर्म करने, इसको अनित्य में नित्य बुद्धि कहते हैं। जिह्वा-स्वाद के लिए जीवों की हिंसा करने वालों की तथा श्येन यागादि रूप अभिचार के द्वारा शत्रु को मारने वालों की परिणाम में बड़ी दुर्गति होती है अर्थात् बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है, परन्तु उसको न जानकर मूर्ख यह समझते हैं कि मान्स के खाने तथा शत्रु के मारने में बड़ा सुख है। इसी को दुःख में सुख बुद्धि कहते हैं । अपवित्र जो अपना शरीर है, तथा स्त्री,

पुत्रादि के शरीर हैं, उनको पवित्र समझ कर इत्र, चन्दनादि लगा कर लाड़-प्यार करना इसी को अपवित्र में पवित्र बुद्धि कहते हैं, और अनात्मा जो शरीर है, उसको आत्मा समझना अर्थात् ऐसा समझना कि मैं शरीर ही हूँ, इसको अनात्म में आत्मबुद्धि कहते हैं।

मुमुक्षु-पुरुष जब साधन सम्पन्न होकर इन अविद्या के कार्यों के स्वरूप का भलीभांति विचार कर लेता है, तो अविद्या का नाश होकर पूर्वोक्त बुद्धियां बदल जाती हैं। काम कहते हैं राग अथवा इच्छा या वासना को; वह काम मुक्ति-मार्ग में बाधा डालता है, अतः दृढ़ वैराग्य के द्वारा उसको नाश कर देना चाहिए। इसी पर कहते हैं

दोहा—विद्या, धन, तप, याग से,
मिटे, नहीं भव-खेद।
एक वासना नाश ते,
मुक्ति बतावत वेद ॥ ४७ ॥

जब लगि सुत वित लोक हिय,
तीनि वासना युक्त।
तब लगि प्राणी होत नहिं,
जन्म मरण से मुक्त ॥ ४८ ॥

दोहार्थ—वेद की आज्ञा है कि विद्या, धन, तप और यज्ञ से भव-खेद [जन्म-मरण रूपी दुख] नहीं मिटता है, वरन् केवल एक वासना के नाश से ही इस जन्म मरण से मुक्ति मिलती है ॥ ४७ ॥ जब तक हृदय में पुत्र, धन, और स्वर्गादि लोकों की वासना (चाहना) बनी रहती है, तब तक प्राणी जन्म-मरण से मुक्त नहीं होता ॥ ४८ ॥

श्रुति भी कहती है:—न कर्मणा न प्रजया न धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानुशः ॥ 'न यज्ञादि कर्म से, न पुत्रादि प्रजा से और न द्रव्य, पशु आदि धन से अमृतत्व (मोक्ष) की प्राप्ति होती है, किन्तु एक त्याग (वैराग्य) से ही मुक्ति होती है'। यहां तक अविद्या और काम का वर्णन हो चुका। अब कर्म का वर्णन करते हैं:—

कर्म के प्रकार:—

कर्म दो प्रकार के होते हैं; एक विहित और दूसरा निषेध। जिसका शास्त्र विधान करता है कि अमुक कर्म करो, उसको विहित और जिसका निषेध करता है कि अमुक कर्म मत करो; उसको निषेध कर्म कहते हैं। जैसे:—हिंसा न करो चोरी न करो; झूठ न बोलो; मदिरा न पीवो इत्यादि, ये निषेध कर्म हैं तथा नित्य नैमित्तिक, काम्य और प्रायश्चित; इस भेद से विहित कर्म चार प्रकार का होता है। जो नित्य प्रति संध्या, अग्निहोत्र आदि किए जायं, वे नित्य कर्म हैं। श्रेष्ठ

पुरुष के आगमन पर उत्थान (उठकर खड़ा होना) करना, दान देना, अमावस्यादि पर्वों पर पितरों के लिए श्राद्ध करना इत्यादि नैमित्तिक कर्म कहलाते हैं। पुत्र, स्वर्गादि की कामना से जो पुत्रेष्टि, अश्वमेधादि यज्ञ किए जाते हैं; वे काम्य कर्म हैं तथा प्रमादवश पाप हो जाने पर उसकी निवृत्ति के लिए जो धर्म-शास्त्र के अनुसार कार्य किए जाते हैं; वे प्रायश्चित्त कर्म हैं, जैसे प्रमाद से सन्यासी द्रव्य गहण कर ले, तो द्रव्य का त्याग और तीन दिन उपवास करने से पाप की निवृत्ति शास्त्र में कहा है। अब यह कहते हैं कि नैमित्तिक कर्म में जो उत्थान कहा गया है, सो किसके आगमन पर कौन उत्थान करे ?

दोहा—वयो वृद्ध, कुल वृद्ध अरु,
विद्या वृद्ध महान ।
ज्ञान वृद्ध कर ये सभी,
किंकर शिष्य समान ॥ ४८ ॥

दोहार्थ—अवस्था में वृद्ध, कुल में श्रेष्ठ विद्या में श्रेष्ठ और महान अर्थात् जो कर्म [धर्म] में श्रेष्ठ हैं, ये सभी जो ज्ञान में श्रेष्ठ [ज्ञानी] हैं, उसके शिष्य और सेवक के तुल्य हैं ॥ ४९ ॥

अतः वयोवृद्ध वाले का सम्मान सबको उठ कर करना

चाहिए, ज्ञाति वृद्ध वाले को देख कर वयो वृद्ध वाले को उठना चाहिए। विद्या वृद्ध वाले को देख कर जाति-वृद्ध वाले को उठना चाहिए। कर्म निष्ठ को देख कर विद्या वृद्ध वाले को उठना चाहिए और ज्ञान में जो वृद्ध आत्मज्ञानी है, उसको देख कर कर्म-निष्ठ आदि सबको उठकर शिष्टाचार करना चाहिए। अब यह दिखलाते हैं कि विहित या निषिद्ध जो कुछ कर्म किया जाता है, उसके भोग निमित्त तीन विभाग होते हैं।

भोगकर्म के तीन विभागः-

दोहा—कर्म भोग प्रारब्ध है,
संचित अरु क्रियमान।
कल्प कोटि शत ना मिटैं,
बिनु उपजे उर ज्ञान ॥ ५० ॥

दोहार्थ—संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण, ये तीन प्रकार के कर्म-भोग होते हैं। जब तक हृदय में आत्म ज्ञान नहीं होता, तब तक ये सौ करोड़ कल्प तक भी नहीं मिटते अर्थात् भोगने ही पड़ते हैं ॥ ५० ॥ जैसे शास्त्र में कहा है:—अवश्यमेव भुक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्। विना भुक्तं न क्षीयन्ते कोटि कल्पै शतैरपि ॥ परन्तुः—

दोहा—भुना बीज सम नहिं जमे,
संचित उपजे ज्ञान ।
कमल पत्र जल बीच सम,
परसें नहिं क्रियमान ॥ ५१ ॥

दोहार्थ—ज्ञान होने पर संचित कर्म भुने हुए बीजों के समान नहीं उपजते अर्थात् वे भोगने नहीं पड़ते और क्रियमाण कर्म जल के भीतर कमल के पत्तों के समान स्पर्श नहीं करते अर्थात् आसक्ति रहित होने के कारण ज्ञानी निर्लेप रहता है, अतएव जड़ कर्म स्वयं नहीं बांधते ॥ ५१ ॥

संचित कर्म के विषय में श्रुति भी कहती है:—क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे । 'उस परमात्मा को देख लेने में यानी साक्षात्कार कर लेने में इस पुरुष के सम्पूर्ण कर्म क्षय हो जाते हैं।' गीता में भी कहा है:—

ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।

'हे अर्जुन! ज्ञान रूपी अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को भस्मीभूत कर देती है।' और:—

दोहा—प्रारब्ध-दुख-सुख सभी,
जानि क्षेत्र का धर्म

व्यापें नहिं सो आपु कंह,

ज्ञानि पृथक बिनु कर्म ॥ ५२ ॥

दोहार्थ—(ज्ञानी पुरुष को) प्रारब्ध जन्य सम्पूर्ण दुख-सुख नहीं व्यापते हैं अर्थात् वह पुरुष दुख से उद्विग्न तथा सुख से अति प्रफुल्लित नहीं होता है। क्यों कि उन दुख तथा सुख को शरीर का धर्म जानता है और अपने आत्मा स्वरूप को शरीर से पृथक तथा निष्क्रिय जानता है ॥ ५२

प्रारब्ध भोग में भी यह रहस्य है:

दोहा—परारब्ध का भोग त्रै,

आयु, विषय अरु जाति ।

स्वेच्छा परइच्छा पुनि,

अनइच्छित से प्राप्ति ॥ ५३ ॥

दोहार्थ—प्रारब्ध का भोग तीन प्रकार का है:—आयु, जाति और विषय, और उनकी प्राप्ति स्वेच्छा, परेच्छा और अनिच्छा से होती है ॥ ५३ ॥

भावार्थ—कीट, पतङ्ग, मनुष्य, इन्द्र, ब्रह्मादि की जो आयु है, वह प्रारब्ध का फल है तथा पशु, पक्षी, मनुष्य, देवता, इत्यादि जो जातियां हैं, वे भी प्रारब्ध से ही मिलती हैं; और इस लोक के पुत्र, स्त्री, धनादि, जो विषय हैं तथा परलोक के

नन्दन बाग, अमृत, अप्सरादि जो विषय हैं, उनकी प्राप्ति भी प्रारब्ध से होती है। प्रारब्ध के फल जो दुख-सुख हैं, वे तीन प्रकार से भोगे जाते हैं:—एक तो स्वेच्छा से; जैसे:—किसी को वैद्य ने औषधि दी है और कुपथ्य सेवन के लिए मना किया है, परन्तु उस रोगी से नहीं रहा गया, अतएव अपनी इच्छा से कुपथ्य खा लिया और उससे रोग बढ़ गया। दूसरे परेच्छा से भोग मिलता है, जैसे:—कोई आदमी बड़ी प्रसन्नता से अपने काम में लगा है, इतने ही में कोई पुलिस का सिपाही आ पहुंचा और उसने उसको पकड़कर उसके शिर पर कुछ माल (बोझा) रख दिया और कहा कि तुझे अमुक स्थान तक चलना पड़ेगा यद्यपि उस मनुष्य की इच्छा बोझ ढोने की नहीं है तथापि दूसरे (पुलिस) की इच्छा से ढोना ही पड़ेगा और तीसरे अनिच्छा से भोगना पड़ता है, जैसे:—मार्ग चलते समय पैर में कांटे का चुभ जाना, गली में चलते समय अकस्मात् छत्त का टूट कर ऊपर गिर पड़ना इत्यादि। इन भोगों में न तो अपनी इच्छा रहती है, और न दूसरे की अतः ये भोग अनिच्छित हैं। सुखोपभोग के विषय में भी उपरोक्त प्रकार से समझ लेना चाहिए।

दोहा—कर्म शुभाशुभ होत नित,
कहत ताहि क्रियमान।

परारब्ध जो देह का,
दुख सुख भोग महान् ॥ ५४ ॥

दोहार्थ—जो शरीर से बुरे-भले कर्म नित्य प्रति होते रहते हैं, उनको क्रियमाण (कर्म) और जो शरीर का दुःख-सुखमय महान् भोग है, उसको प्रारब्ध कहते हैं ॥ ५४ ॥ प्रारब्ध भोग को महान् इसलिए कहा कि ज्ञान हो जाने पर भी इसका चक्र बन्द नहीं होता, किन्तु अपना पूरा भोग देकर ही शान्त होता है। तथाः—

दोहा—संचित है संचय किए,
परारम्भ हैं नाहिं ।
अवसर अपना पाइ के,
परारब्ध बनि जाहिं ॥ ५५ ॥

दोहार्थ—जो कर्म भोगने के लिए अभी प्रारम्भ नहीं हुए हैं, वे संचित कहलाते हैं, और वही संचित कर्म समय पाकर प्रारब्ध हो जाते हैं ॥ ५५ ॥

भावार्थ—इधर प्राणी प्रारब्ध कर्मों को भोगते जाते हैं उधर क्रियमाण कर्म संचित होते जाते हैं। और ज्योंही प्रारब्ध कर्म भोग द्वारा समाप्त हो जाते हैं, त्यों ही शरीर छूट जाता है और फिर संचित में से प्रारब्ध बन जाता है, और साथ ही साथ प्राणी शरीर धारण कर उस प्रारब्ध को भोगने लगते

हैं तथा शरीर से जो बुरे-भले कर्म होते हैं, वे फिर संचय होने लगते हैं। इस प्रकार घटी यन्त्र की तरह अथवा घूमते हुए कोल्हू के चक्र के समान इस संसार में जन्म और मरण होते रहते हैं। अहो! कर्म के बन्धन में पड़ कर प्राणी दीन हो गए हैं।

अन्तरंग साधन में नहीं पहुंचे हुए अशुद्ध अन्तःकरण वाले पुरुषों को चाहिए कि निषिद्ध कर्मों को कभी न करें; और कभी भूल कर हो भी जायं तो धर्म शास्त्र के अनुसार प्रायश्चित कर लें, तथा काम्य कर्म जो यज्ञादि हैं उन्हें भी न करें अथवा करें भी तो स्वर्गादि की कामना छोड़ कर करें और नित्य नैमित्तिक कर्मों को निष्काम भाव से सर्वदा करते जांय। इससे अन्तःकरण शुद्ध होकर अन्तरंग साधनों के द्वारा ब्रह्म का अपरोक्ष ज्ञान हो जायगा। ज्ञान होने पर जन्म-जन्मान्तर के शुभाशुभ कर्मों का अभाव हो जायगा, उससे कर्म के बन्धन से छूटकर प्राणी सुखस्वरूप हो जायंगे। अब जो कर्म से ही मुक्ति मानते हैं, उस एक भविकवाद का वर्णन तथा उसका खण्डन करते हैं।

एकभविक बाद और उसका खण्डनः—

एक भविकवाद वाले तो कर्म से ही मुक्ति मानते हैं। उनका कथन है कि काम्य तथा निषिद्ध कर्मों को करने से स्वर्गादि उत्तम लोकों तथा अधोगति की प्राप्ति होती है।

इसलिये मुक्ति चाहने वाला पुरुष इन काम्य तथा निषिद्ध कर्मों को न करे; तथा नित्य-नैमित्तिक कर्मों के करने से कुछ पुण्य नहीं होता और न करने से पाप होता है। इसलिए उनको सर्वदा करता जाय, ताकि पाप न हो, तथा कोई निषिद्ध कर्म हो जाय तो प्रायश्चित कर ले। इस रीति से वर्त्तमान जन्म के कर्मों से छुटकारा हो जायगा अर्थात् कोई नए पुण्य पाप नहीं होंगे कि वे भोगने पड़ेंगे। उसके बाद प्रारब्ध को भोग कर निवृत्त करे तथा पूर्व जन्मों में नित्य-नैमित्तिक कर्मों के न करने से उत्पन्न हुए जो संचित पाप हैं और प्रायश्चित कर्म के अभाव जन्य तथा निषिद्ध कर्म जन्य जो संचित पाप हैं, वे साधारण प्रायश्चित से दूर हो जायेंगे। (साधारण प्रायश्चित वह है, जिसके करने से सब प्रकार के संचित पाप निवृत्त होते हैं। जैसेः—गंगास्नान, ईश्वर के नाम का जप, इत्यादि) अथवा वर्त्तमान शरीर से नित्य-नैमित्तिक कर्मों के करने से जो कष्ट होता है, उसी से सम्पूर्ण संचित पाप निवृत्त हो जायँगे।

अब रह गए संचित काम्य कर्म जन्य तथा नित्य-नैमित्तिक कर्म जन्य पुण्य; उनमें से काम्य कर्म जन्य पुण्य की निवृत्ति तो कामना के अभाव से ही हो जायगी; क्योंकि यह वेदान्त का सिद्धान्त है:—"कामना के अभाव से कर्म अपना फल नहीं देते।" और नित्य नैमित्तिक कर्मजन्य पुण्य के लिए दो-चार जन्म और धारण करने पड़ेंगे अथवा योगी की काय-

व्यूह की तरह एक ही काल में अनेक शरीर धारण करके भोग लिए जायँगे। बस, इस तरह से कर्म बन्धन से छूट कर मुक्ति हो जायगी।

पूर्वोक्त एकभविक वाद बिल्कुल असैद्धान्तिक है। वह जो कहता है कि नित्य-नैमित्तिक कर्मों के न करने से दोष होता है तथा करने से कोई पुण्य नहीं होता, सो ठीक नहीं है, क्यों कि शास्त्रों में कामना से किए हुए नित्य-नैमित्तिक कर्मों का फल स्वर्ग और निष्कामभाव से करने से अन्तःकरण की शुद्धि कहा है तथा कर्मों का न करना तो अभाव है; तब अभाव से भावरूप पाप कैसे हो सकता है? भगवान ने गीता में कहा है—"नासतो विद्यते भावो"। 'असत् का भाव (अस्तित्व) नहीं होता' अतः नित्य-नैमित्तिक कर्मों के अभाव से पाप नहीं हो सकता, बल्कि न करने से स्वर्गादि की प्राप्ति एवं अन्तःकरण की शुद्धि न होगी तथा प्रायश्चित कर्म करने से तो "पाप की निवृत्ति तथा स्वर्गादिफल की प्राप्ति" शास्त्रों में वर्णित है। जैसे अश्वमेध, राजसूय, इत्यादि यज्ञों के करने से ब्रह्महत्यादि पापों की निवृत्ति पूर्वक स्वर्ग की प्राप्ति कहा है अतः कर्मों के द्वारा वर्त्तमान जन्म के कर्मों से छुटकारा पाने की आशा करनी निष्फल है तथा संचित शुभकर्मों के फल यदि इच्छा के अभाव से दूर हो जाते, तो समस्त अशुभ कर्मों के फल भी बिना भोगे ही दूर हो जाते, क्यों

कि पाप-फल दुःख भोगने की इच्छा कोई भी नहीं करता परन्तु दुःख भोगते हुए प्राणी देखे जाते हैं, इससे यह सिद्ध होता है कि इच्छा के अभाव से कर्म-फल दूर नहीं हो सकते तथा केवल नित्य-नैमित्तिक कर्मों के करने से जो दुःख होता है, उससे भी अनेक जन्मों के अनन्त पापों के फल निवृत्त नहीं हो सकते; क्यों कि उनके लिए अनेक जन्म तथा अनेक प्रकार के दुःखों की आवश्यकता है तथा साधारण प्रायश्चित्त जो गंगा स्नान, ईश्वर के नाम जप इत्यादि हैं, उनसे भी अनन्त जन्मों के अनन्त पाप निवृत्त नहीं हो सकते, और शास्त्रों में साधारण प्रायश्चित से कुछ पाप की निवृत्ति तथा स्वर्ग की प्राप्ति कही है। अतः इससे संचित पापों की निवृत्ति तथा पुण्य की अप्राप्ति माननी सर्वथा असंगत है, और अनन्त कर्मों के फल को दो चार जन्मों में भोग कर निवृत्त कर देना भी असम्भव ही है, तथा एक ही काल में अनेक शरीरों का धारण भी योगी के सिवा दूसरा नहीं कर सकता, और योगी भी सूर्य के किरणों में तथा दूसरे के शरीर में प्रवेश करना, शरीर को पर्वताकार और सूक्ष्म से सूक्ष्म कर देना इत्यादि सिद्धियां तो दिखला सकता है, पर मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता, क्यों कि मुक्ति तो एक केवल ज्ञान से ही होती है। ज्ञानी सिद्धियां नहीं दिखला सकता, परन्तु मुक्त हो जाता है। जो ज्ञानी तथा योगी दोनों है, वह सिद्धियें भी दिखला सकता है और मुक्त भी है। जैसे:—स्वामी शंकराचार्य जी इत्यादि हुए हैं।

जैसे नींद के वशीभूत हुआ स्वप्न अवस्था में प्राणी नाना प्रकार की सृष्टियां देखता है और उन सृष्टियों में अपने को भी एक शरीर धारी समझता है तथा अनेक प्रकार के कर्मों का कर्ता तथा भोक्ता बन कर दुःखी और सुखी होता है। परन्तु ज्यों ही नींद टूटी कि न कहीं सृष्टि है, न कहीं कोई कर्त्ता-भोक्ता और न दुःख-सुख हैं; बल्कि वह अकेला ही चारपाई पर पड़ा है। वैसे ही यह जो कुछ सृष्टि, कर्म, कर्मों का कर्त्तापन भोक्तापन इत्यादि प्रपंच है, वह वास्तव में न होता हुआ भी अपने एक ही अद्वितीय निष्क्रिय तथा असंग स्वरूप के अज्ञान से प्रतीत हो रहा है। अपने स्वरूप के ज्ञान द्वारा ज्यों ही अज्ञान का नाश हुआ कि इस सम्पूर्ण प्रपंच का अभाव होकर यह आत्मा अपने नित्य मुक्त शुद्ध स्वरूप से स्थित होता है।

पूर्वोक्त विवेचन से यह सिद्ध हो गया कि कर्म से मुक्ति नहीं हो सकती; क्यों कि ईश्वर का भी यही संकल्प है कि "बिना ज्ञान हुए अज्ञानी-प्राणियों के कर्म नष्ट न हों।" ईश्वर को श्रुति में सत्य संकल्प वाला कहा है, तो भला उनका संकल्प कैसे टल सकता है? अतः कर्म-बन्धन से छुटकारा (मोक्ष) पाने के लिए मुमुक्षु जनों के लिए एक ज्ञान का ही सम्पादन करना चाहिए। पूर्व जो स्थूल, सूक्ष्म और कारण, ये तीन शरीर कहे गए हैं, उनमें पांच कोश हैं। कोश कहते हैं म्यान को, जैसे म्यान में छिपी हुई तलवार दिखलायी नहीं

देती है, वैसे ही इन पांच कोशों से ढका ('आच्छादित') हुआ आत्मा प्रतीत नहीं होता है। श्रुति भी कहती है: "यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्।" 'जो परम आकाश स्वरूप गुहा में छिपे हुए ब्रह्म को जानता है।' यहां गुहा से पंचकोश ही समझने चाहिए।

पंचकोश

दोहा—पंच कोश वर्णन करूं,
तीन देह में जोय।
अशन जन्य जो दीर्घ वपु,
कोश अन्नमय सोय ॥ ५६ ॥
कर्मेन्द्रिय अरु प्राण मिल,
कोश प्राणमय उक्त।
मनमय कोश कहात है,
ज्ञानेन्द्रिय मन युक्त ॥ ५७ ॥
ज्ञानेन्द्रिय अरु बुद्धि मिलि,
कहत कोश विज्ञान।
तीन कोश के भीतरे,
निश्चय कर के आन ॥ ५८ ॥

दोहार्थ—उन पांच कोशों का वर्णन करता हूँ, जो कि तीन शरीरों में हैं—भोजन करने से जो (रज-वीज के द्वारा) स्थूल शरीर उत्पन्न होता है, वह अन्नमय कोश है ॥५६॥ कर्मेन्द्रियां (हाथ, पांव, लिंग, गुदा और वाक्) और प्राण [प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान] मिल कर प्राणमय कोश कहा गया है। ज्ञानेन्द्रियां [श्रोत्र, त्वचा नेत्र, रसना और नासिका] और मन मिल कर मनोमय कोश कहलाता है ॥५७॥ ज्ञानेन्द्रियों में बुद्धि को मिला कर विज्ञान-मय कोश कहलाता है। इसको निश्चय करके अन्नमय, प्राणमय, और मनोमय इन तीनों कोशों के अन्दर समझो ॥५८॥ सूक्ष्म-भूतों के रजोगुण से प्राण भी बने हैं और कर्मेन्द्रियां भी तथा प्राणों के बिना कर्मेन्द्रियां कोई भी कर्म नहीं कर सकतीं, अतः प्राणों के सहित इन्हें प्राणमय कोश कहते हैं; तथा पांच सूक्ष्म भूतों के सतोगुण से मन भी बना है और ज्ञानेन्द्रियां भी तथा मन के बिना ज्ञानेन्द्रियां ज्ञान नहीं कर सकतीं, अतः मन के सहित इन्हें मनोमय कोष कहते हैं।

दोहा—कारण सर्व उपाधि का,
एकाज्ञान उपाधि ।
तम प्रधान आनन्दमय,
कोश विमल मति साधि ॥५९॥

दोहार्थ—[जाग्रत, स्वप्न-सुषुप्ति तथा चार कोश इत्यादि]

सर्व उपाधियों का कारण जो एक अज्ञान रूपी उपाधि है [जिसमें] तमोगुण प्रधान रहता है, [वही] आनन्दमय कोश है, वह निर्मल बुद्धि से साधा जाता है अर्थात् समझा जाता हैं ॥५९॥ यहां मर्म यह है कि सुषुप्ति अवस्था में तो इस आत्मा को अज्ञान ही आच्छादित करता है, क्योंकि वहां आवरण शक्ति वाला अज्ञान [अविद्या] तमोगुण प्रधान हो जाता है, इसी से आत्मा अपने स्वरूप सुख का अनुभव करता है; अतएव उस सुषुप्ति के समय अज्ञान ही आनन्द-मय कोश कहलाता है; परन्तु जागृत तथा स्वप्न में अज्ञानरूपी अविद्या का परिणाम जो अन्तःकरण है, उसमें दो वृत्तियां होती हैं। एक भोक्तृत्व [मैं भोगता हूँ] और दूसरी कर्त्तृत्व [मैं करता हूं] भोक्तृत्व वृत्ति बुद्धि और कर्त्तृत्व वृत्ति मन कहलाता है। जागृति तथा स्वप्न अवस्था में उस भोक्तृत्व बुद्धि से युक्त हुई ज्ञानेन्द्रियां आनन्दमय कोश तथा कर्त्तृत्व मन से युक्त हुई विज्ञानमय कोश कहलाती हैं। पदार्थों के ज्ञान करने में मन अर्थात् मनोमय कोश तो कारण और बुद्धि अर्थात् विज्ञानमय कोश कर्त्ता होता है।

दोहा—प्राण अन्न में प्राण में,
मन, मन में विज्ञान।
ज्ञान मांहि आनन्द मय,
कोशन को पहिचान ॥६०॥

दोहार्थ—अन्नमय कोश में प्राणमय कोश, प्राणमय कोश में मनोमय कोश, मनोमय कोश में विज्ञानमय कोश और विज्ञानमय कोश में आनन्दमय कोश (व्याप्त) है। (इस प्रकार) कोशों को समझो अर्थात् ऐसा जानो कि एक दूसरे से परिपूर्ण हो रहे हैं ॥६०॥ स्थूल शरीर में एक अन्नमय कोश है। सूक्ष्म शरीर में प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय ये तीन कोश हैं और कारण शरीर में एक आनन्दमय कोश है। आत्मा इन तीन शरीर तथा पांच कोशों में व्याप्त हो कर इनका साक्षी रहता है। अब साक्षी की परिभाषा करता हूँ।

साक्षी:—

दोहा—पंचकोश में आतमा,
व्यापक एक समान।
रहि असंग साक्षी तिसे,
भाव विलय का ज्ञान ॥६१॥

दोहार्थ—आत्मा पंचकोशों में साक्षी तथा असंग रह कर एक समान व्यापक [परिपूर्ण] है और उसे [पंचकोशों का] भाव [उत्पत्ति] और विलय [लय] का ज्ञान रहता है ॥६१॥ "उदासीनत्वे सतिबोधा साक्षी" 'जो उदासीन तथा चैतन्य [ज्ञान करने वाला] हो' उसे साक्षी कहते हैं।

"उदासीन हो" जो इतना ही साक्षी की परिभाषा करते, तो तृण, पाषाण अथवा स्थूल शरीर ही साक्षी कहलाता। इसलिये चैतन्य कहा, क्योंकि ये तृणादि उदासीन तो हैं, परन्तु चैतन्य नहीं हैं; और "चैतन्य हो" जो इतना ही कहते, तो जो दो पुरुष आपस में झगड़ा करते हैं, वे भी साक्षी कहलाते, अथवा प्रमाता [जीव चेतन] भी साक्षी कहलाता। इसलिए जो उदासीन हो, ऐसा कहा; क्योंकि इनमें चैतन्यता तो है, परन्तु उदासीनता नहीं है, बल्कि ये द्वेष-राग वाले हैं। यह साक्षी का जो यह अर्थ किया गया है, वह जीव का जो असली स्वरूप कूटस्थ है अर्थात् प्रत्यक् आत्मा है उसमें ही घटता है। वह आत्मा पूर्वोक्त पांच कोशों से पृथक् रह कर राग-द्वेष से रहित हुआ उनको जानता है। अब यह दिखलाते हैं कि वह पांच कोशों से पृथक कैसे है ? वह आत्मा अन्नमय कोश [स्थूल शरीर] नहीं है क्योंकि स्थूल शरीर अन्न का विकार तथा भूतों का कार्य होने से मिथ्या तथा जड़ है। इसके विपरीत आत्मा सत्य तथा चेतन है। आत्मा प्राणमय कोश भी नहीं है, क्योंकि प्राण भूतों के रजोगुण के कार्य होने से मिथ्या हैं तथा जब पुरुष सो जाता है, तो किसी मित्र के आने पर ये प्राण सम्मान नहीं करते। यदि चोर भूषण ले जाता है तो निवारण भी नहीं करते। इससे यह जाना जाता है कि प्राणमय कोश जड़ है तथा सुषुप्ति में इसका अभाव माना गया है। यद्यपि अन्य पुरुषों के देखने में

प्राण चलते रहते हैं तथापि सोने वालों को प्रतीत नहीं होते। अतएव सुषुप्ति में प्राणमय कोश नहीं रहता, अतः वह असत्य हैं, [वेदान्त शास्त्र दृष्टि सृष्टि वाद को मानता है। दृष्टि कहते हैं प्रतीत को। जिस समय जिसको जिस पदार्थ की प्रतीति होती है, उसके लिए वह पदार्थ उसी समय उत्पन्न होता है] और आत्मा का कभी अभाव नहीं होता है, इसलिये सत्य है तथा सबको जानने से चैतन्य है। वह सत्य स्वरूप आत्मा मनोमय कोश भी नहीं है क्योंकि मन भूतों का सात्विक कार्य है। जैसे श्रुति कहती है:—तन्मनो कुरुते। अर्थात् उसनेमन को उत्पन्न किया। कार्य मिथ्या ही होता है और सुषुप्ति में मन का लय हो जाता है तथा यह विकारवान् एवं जड़ है। परन्तु आत्मा तो अनादि तथा अजन्मा होने से कार्य नहीं है। कार्य के न होने से मिथ्या नहीं है, बल्कि सत्य है और निर्विकार है। आत्मा विज्ञानमय कोश भी नहीं है क्यों कि बुद्धि भी भूतों का कार्य है तथा सुषुप्ति अवस्था में उसका भी अविद्यांश में लय हो जाता है और आत्मा के ही चैतन्यता से तथा आनन्द से प्रतिविम्वित हुई कार्य का निर्णय तथा प्रिय, मोद, प्रमोदरूप आनन्द को ग्रहण करती है (प्रिय वस्तु को देखकर जो आनन्द होता है उसे प्रिय, प्रिय वस्तु के मिल जाने पर जो सुख होता है उसे मोद तथा प्रिय वस्तु के भोगने में जो सुख प्राप्त होता है, उसे प्रमोद कहते हैं।) आत्मा तो सच्चि-दानन्द स्वरूप होने, से विज्ञानमय कोश कदापि नहीं हो सकता

और यह आत्मा आनन्दमय कोश भी नहीं हो सकता, क्यों कि सुषुप्ति अवस्था में जो अविद्या की सुख वृत्ति एवं जागृत तथा स्वप्न अवस्था में जो अन्तःकरण की सुखवृत्ति है, वह आनन्दमय कोश है इन दोनों सुख वृत्तियों का अभाव माना गया है। जैसे जागृति अवस्था में सुषुप्ति तथा स्वप्न के सुख का अभाव रहता है। इसी प्रकार स्वप्न में जागृति तथा सुषुप्ति के सुख नष्ट हो जाते हैं, इसलिए आनन्द मय कोश मिथ्या तथा जड़ है और आत्मा सत्य तथा चेतन स्वरूप है। पूर्वोक्त रीति से यह सिद्ध हो गया कि आत्मा पांच कोशों से भिन्न सच्चिदानन्द स्वरूप है।

शंका—आत्मा पांच कोश भले ही मत हो, परन्तु पांच कोशों के बाद तो कुछ प्रतीत ही नहीं होता, अर्थात् जो कुछ है वह पांच कोश ही है, तब आत्मा का अस्तित्व क्या रह जाता है? अर्थात् कैसे माना जाय कि आत्मा कोई वस्तु है?

समाधान—यह ठीक है, पांच कोशों से पृथक कुछ प्रत्यक्ष प्रतीत नहीं होता है, परन्तु जिसके द्वारा इन पांच कोशों के अभाव को जाना जाता है, उसीको आत्मा जानो। स्थूल शरीर, प्राण, मन, बुद्धि और अज्ञान का तथा इनके अभाव का अनुभव तुम सदा करते हो; इसलिए तुम्हीं आत्मा हो तथा पांच कोश जिसके आधार पर बिगड़ें बने करते हैं उसी को आत्मा जानो, क्यों कि मिथ्या पदार्थ किसी सत्य पदार्थ के बिना स्थिर (प्रतीत) नहीं हो सकते। अब यह दिखलाते

हैं कि तीन शरीर का अध्यास (अभिमान) कर के यह एक ही शुद्ध चेतन ब्रह्म जीव भाव को प्राप्त हो कर के तीन संज्ञा वाला हुआ है।

दोहा—विश्व रहित अद्वैत शिव,
वही अवस्था भेद।
भोक्ता चारि प्रकार का,
नाम बतावत वेद ॥ ६२ ॥
जागृत भोक्ता विश्व अरु,
सपन, तैजसे जान।
काल सुषुप्ती प्राज्ञ है,
साक्षि तुरीया मान ॥ ६३ ॥

दोहार्थ—विश्वरूप प्रपंच से रहित, जो अद्वैत (एक ही ब्रह्म) शिव (कल्याण स्वरूप) है, वही (जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्त्यादि) अवस्थाओं के भेद से भोक्ता और चार प्रकार का नाम वाला हुआ, ऐसा वेद कहता है ॥ ६२ ॥ जागृत (अवस्था) के भोक्ता को 'विश्व' और स्वप्न (अवस्था) के भोक्ता को 'तैजस' जानो। सुषुप्ति (अवस्था) के समय का [भोक्ता] 'प्राज्ञ' और तुरीया [अवस्था] का [भोक्ता] 'साक्षी' मान लो ॥ ६३ ॥ जब जीव को ऐसा शुद्ध, अभिमान

होता है कि:—मैं तीन अवस्था और तीन शरीर का प्रकाशक (जानने वाला) होने से, इनसे भिन्न शुद्धसच्चिदानन्द मुक्त स्वरूप हूँ; तब यह तुरीया अवस्था वाला जीव साक्षी कहलाता है और जब ईश्वर साक्षी ब्रह्म से अपने को अभेद समझ जाता है, तब तो यह 'तुरीयातीत' कहलाता है।

प्रक्रिया के ग्रन्थों में अज्ञान को निद्रा और विक्षेप (नानात्व दर्शन) को स्वप्न कहा गया है। इस रीति से विश्व और तैजस, ये दोनों निद्रा और स्वप्न से ग्रसित रहते हैं, क्योंकि इनको अपने शुद्ध स्वरूप का अज्ञान भी है और ये नाना प्रपञ्च का अनुभव भी करते हैं। परन्तु प्राज्ञ तो केवल एक निद्रा के ही वशीभूत रहता है, क्योंकि वह सुषुप्ति में नानात्व जगत नहीं देखता; बल्कि उसको केवल अपने स्वरूप का अज्ञान ही रहता है। परन्तु तुरीय (कूटस्थ अथवा साक्षी) तो निद्रा और स्वप्न, इन दोनों से रहित है, क्योंकि उसे अपने शुद्ध सच्चिदानन्द स्वरूप का ज्ञान रहता है। विश्व की उपाधि स्थूल, तैजस की सूक्ष्म, प्राज्ञ की कारण है और तुरीय तो उपाधि रहित है। विश्व का स्थान नेत्र, तैजस का कण्ठ, प्राज्ञ का हृदय और तुरीय का सर्वत्र है। विश्व बाहर दृष्टि वाला, तैजस अन्तर वाला, प्राज्ञ प्रज्ञानघन वाला अर्थात् जैसे जल जम कर बर्फ हो जाता है, वैसेही सुषुप्ति में स्थूल और सूक्ष्म प्रपञ्च घनीभूत (अविद्या रूप) हो जाता है, तब उसे अविद्या का अनुभव करने से उसकी दृष्टि (चेतनता)

भी घनीभूत हो जाती है, और तुरीय तो प्रपञ्च के अभाव होने से किसी भी दृष्टि वाला नहीं है, बल्कि चेतन स्वरूप ही है। विश्व स्थूल प्रपञ्च का भोक्ता है, तैजस सूक्ष्म का और प्राज्ञ कारण आनन्द का, तथा तुरीय तो आनन्द स्वरूप ही है।

पूर्वोक्त विषय का वर्णन श्री स्वामी गौड़पादाचार्य जी ने "माण्डूक्य कारिका" में सविस्तार किया है, यहां मैं विस्तार भय से नहीं लिखता हूँ।

यह तो व्यष्टिरूप की उपाधि से आत्मा की संज्ञा हुई अब जो समष्टिरूप उपाधि से संज्ञा होती है, उसका वर्णन करता हूँ:—सम्पूर्ण को समष्टि और एक अंश को व्यष्टि कहते हैं। सम्पूर्ण स्थूल उपाधि रूप जो जागृत अवस्था (संसार) है, उसका अभिमान करने से (कि यह स्थूल जगत मेरा स्वरूप है) यह आत्मा विराट कहलाता है और सम्पूर्ण सूक्ष्म उपाधि रूप जो स्वप्न अवस्था या सूक्ष्म शरीर है उसका अभिमानी होने से [कि यह सम्पूर्ण सूक्ष्म शरीर मेरा ही है] वह हिरण्यगर्भ कहलाता है, तथा सम्पूर्ण कारण शरीर अर्थात् स्थूल सूक्ष्ममय जो सम्पूर्ण जगत है, उसका कारण जो माया [अज्ञान] है, उसका अभिमानी बनने से, [अर्थात् यह समझने से कि मैं सृष्टि, स्थिति तथा लय करने वाला हूं] ईश्वर कहलाता है। इस सम्पूर्ण स्थूल, सूक्ष्म और कारण उपाधि वाले ब्रह्माण्ड का प्रकाशक [जानने-

वाला] होने से अर्थात् मैं इससे भिन्न शुद्ध सच्चिदानन्द मुक्त स्वरूप हूं, ऐसा शुद्ध अभिमान करने से वही आत्मा ईश्वर साक्षी ब्रह्म कहलाता है।

पूर्वोक्त प्रकार से जो समष्टि स्थूल प्रपञ्च है, वह अन्तर्यामी ईश्वर का स्थूल शरीर है, समष्टि सूक्ष्म प्रपञ्च [सूक्ष्म शरीर] और समष्टि कारण प्रपञ्च [कारण शरीर है] तथा व्यष्टि स्थूल प्रपञ्च [जीव का स्थूल शरीर] व्यष्टि सूक्ष्म प्रपञ्च [सूक्ष्म शरीर] और व्यष्टि कारण प्रपञ्च [कारण शरीर] है।

एक ही आत्मा व्यष्टि उपाधि रूप तीन शरीर तथा तीन अवस्थाओं का साक्षी [अर्थात् ये अवस्था और शरीर मेरा नहीं और मैं इनका नहीं, किन्तु ये अविद्या के कार्य हैं; मैं इनका जानने वाला घट द्रष्टा की तरह इनसे भिन्न हूं] होने से कूटस्थ, और समष्टि उपाधिरूप ब्रह्माण्ड का साक्षी होने से ब्रह्म कहलाता है। कूटस्थ और ब्रह्म ये दोनों साक्षी होने से निर्विकार हैं, इसलिए इन दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं है। कूटस्थ को त्वं पद का लक्ष्य और ब्रह्म को तत् पद का लक्ष्य कहते हैं तथा कूटस्थ के सहित विश्व तैजस और प्राज्ञ को त्वं पद का वाच्यार्थ, तथा ब्रह्म के सहित विराट, हिरण्यगर्भ और ईश्वर को तत् पद का वाच्यार्थ कहते हैं। विचार करके देखिये तो वाच्य में ही भेद है, लक्ष्य में कुछ भी नहीं। इसी बात को श्रुतियों के महावाक्यों के द्वारा समझाता हूं:—

श्रुतियों के महावाक्य और लक्षणः—

सामवेद की श्रुति का महावाक्य यह है:—"तत्त्वमसि"। 'वह [तत् पद का लक्ष्य] तू [त्वं पद का लक्ष्य] है।' यजुर्वेद की श्रुति कहती है:— "अहं ब्रह्मास्मि"। 'मैं [त्वं पद का लक्ष्य] ब्रह्म [तत् पद का लक्ष्य] हूँ। ऋगुवेद की श्रुति कहती है:— "अयमात्मा ब्रह्म"। 'यह [अपरोक्ष] आत्मा [त्वं पद का लक्ष्य] ब्रह्म [तत् पद का लक्ष्य] है।' अथर्वण वेद की श्रुति भी कहती है:— "प्रज्ञानमानन्द ब्रह्म"। 'प्रज्ञान [त्वं पद का लक्ष्य] आनन्द स्वरूप ब्रह्म [तत् पद का लक्ष्य] है' इन सब महावाक्यों में भागत्याग लक्षणा ली गयी है। तत् पद और त्वं पद, इन दोनों पदों में के वाच्य भागों को छोड़ कर केवल लक्ष्य भागों को लेने से श्रुति के वाक्य [तात्पर्य] में कुछ भी अन्तर नहीं पड़ता है। लक्ष्य भागों को छोड़ कर केवल वाच्य भागों को लेने से अनर्थ हो जायगा। इसलिए लक्ष्य भागों को लेना ही ठीक है।

अब जहल्लक्षणा दिखलाते हैं। यदि वाच्यार्थ को छोड़कर उस वाच्यार्थ से सम्बन्ध रखने वाले का ग्रहण किया जाय, तो वह जहल्लक्षणा कहलाती है। जैसे किसी ने कहा कि "मार्ग चल रहा है" अथवा "चूल्हा जल रहा है" यहां मार्ग का चलना तथा चूल्हे का जलना असम्भव है; अतः मार्ग तथा

चूल्हे को त्याग कर उनसे सम्बन्ध रखने वाले पथिक तथा लकड़ी [इन्धन] में लक्षणा करने से वक्ता का अभिप्राय ठीक समझ में आ गया कि पथिक चलता है या ईन्धन जलता है। उसी प्रकार "तत्वमसि" 'अर्थात् वह तू है' इस वाक्य में तत् पद का वाच्य जो स्थूल, सूक्ष्म और कारणरूप ब्रह्मांड शरीर वाला ईश्वर है, उसको त्याग कर जो तत्पद का साक्षी ब्रह्म बचता है उसमें, त्वं पद का वाच्य जो तीन अवस्था का अभिमानी अल्पज्ञ तथा जन्म-मरण वाला सांसारी जीव है, उसकी लक्षणा करने से महा अनर्थ हो जायगा, क्यों कि सांसारी जीव शुद्ध ब्रह्म नहीं हो सकता और तत्पद का वाच्यार्थ जो सर्वज्ञ, मुक्त, तथा एक ईश्वर है, उसकी, त्वं पद के वाच्यार्थ का सम्बन्धी जो साक्षी [कूटस्थ] है, उसमें लक्षणा करने से भी अनर्थ ही होगा, क्यों कि अनेक धर्मों वाला ईश्वर शुद्धस्वरूप कूटस्थ नहीं हो सकता। अब अजहल्लक्षणा दिखलाते हैं। अजहल्लक्षणा उसको कहते हैं जिसमें वाच्यार्थ न त्याग कर उसके सम्बन्धी का भी ग्रहण हो। जैसे किसी ने कहा:—"लाल दौड़ता है" यहां लाल (रंग) का दौड़ना असम्भव है, क्यों कि रंग जड़ है, और यदि जहल्लक्षणा करके लाल को छोड़ देते हैं तो लाल का दौड़ना सिद्ध ही नहीं होता है, इसलिए लाल रंग को देखते हुए उसका सम्बन्धी जो घोड़ा है उसको ले लिया अब वक्ता का अभिप्राय निकल गया कि लालघोड़ा दौड़ता है। अब तत्त्व-

मसि में अजहल्लक्षणा दिखलाते हैं—"तत्त्वमसि" महावाक्य के तत्पद का वाच्यार्थ जो एक, सर्वज्ञ तथा मुक्त ईश्वर है, उसमें, त्वं पद का वाच्यार्थ अनेक, अल्पज्ञ तथा सांसारी जीव है, उसकी लक्षणा करने से यह सिद्ध होता है कि जो अनेक, अल्पज्ञ तथा सांसारी जीव हैं, वे एक सर्वज्ञ और मुक्त ईश्वर हैं, देखिये ! कैसा अनर्थ हो गया ? परस्पर विरोध वाले धर्म एक कैसे हो सकते हैं। यदि तत्पद के वाच्यार्थ की त्वं पद के वाच्यार्थ में अजहल्लक्षणा की जाय तो यह सिद्ध होगा कि जो एक सर्वज्ञ तथा मुक्त ईश्वर है, वह अनेक, अल्पज्ञ और बद्ध जीव है, देखिए यहां भी कैसा अनर्थ होगया। इसलिए यहां श्रुति के महावाक्य में पूर्वोक्त प्रकार से भाग त्याग [जहदजहत्] लक्षणा ही करनी ठीक है।

भगवान् रामने भी अध्यात्मरामायण के अन्तर्गत "श्री रामगीता" में श्री लक्ष्मण जी के प्रति कहा है:—

एकात्मकत्वाज्जहती न सम्भवेत्तथा-
ऽजहल्लक्षणता विरोधतः।
सोऽयम्पदार्थाविव भागलक्षणा
युज्येत तत्त्वम्पदयोरदोषतः॥

इन 'तत' और 'त्वं' पदों में एक रूप होने के कारण

जहती लक्षणा नहीं हो सकती, वैसे ही परस्पर विरोध होने के कारण अजहल्लक्षणा भी नहीं हो सकती; इसलिए 'यह वही है' इन दोनों पदों के अर्थों के समान 'तत्' और 'त्वं' पदों में भी भाग त्याग लक्षणा निर्दोषता से करे।'

तत् और त्वं पदों में परस्पर विशेष्य विशेषण भाव सम्बन्ध है क्योंकि ये दोनों शुद्ध चेतन के विशेषण हैं तथा इनका परस्पर लक्ष्य लक्षक भाव सम्बन्ध है, क्योंकि ये दोनों एक ही शुद्ध चेतन के लक्षक हैं, और इनका परस्पर समानाधिकरण्य भाव सम्बन्ध है अर्थात् इन दोनों का एक ही [समान ही] शुद्ध चेतन अधिकरण यानी ये दोनों एक ही शुद्ध ब्रह्म में कल्पित हैं। इस ग्रन्थ की इसी 'अञ्जलि' में तैत्तरीय श्रुति के अनुसार सृष्टि कही गई है तथा तीन शरीर और पांच कोशों की व्याख्या द्वारा आत्मा का शुद्ध स्वरूप लखाया गया है। अब सांख्यों की सृष्टि के द्वारा वेदान्त का रहस्य बतलाया जाता है।

सांख्यों की सृष्टि द्वारा वेदान्त का रहस्यः—

दोहा—कर्मेंद्रिय, ज्ञानेन्द्रियां,
महाभूत तन्मात्र।
मूल प्रकृति मन बुद्धिहं,
तत्त्व चारि विस गात्र ॥ ६४ ॥

दोहार्थ—[पांच] कर्मेन्द्रियां, [पांच] ज्ञानेन्द्रियां, [पांच] महाभूत [आकाशादि], [पांच] तन्मात्रा [विषय] [एक] 'मूल प्रकृति [माया], मन, बुद्धि और अहंकार, इन चौवीस तत्त्वों का शरीर है ॥ ६४ ॥

भावार्थ—सांख्यों का कथन है कि ईश्वर नहीं हैं वल्कि प्रकृति और पुरुष, ये ही दो तत्त्व अनादि तथा अनन्त हैं। इनमें से पुरुष नाना [असंख्य] हैं और प्रकृति एक है। पुरुष स्वरूप से असंग है, उन पुरुषों के भोग तथा मोक्ष के लिए एक ही प्रकृति नाना शरीर [सृष्टि] रचा करती है। प्रकृति के परिणाम बुद्धि में जब सतोगुण बढ़ जाता है, तो उस सतोगुण से पुरुष को अपने असंग स्वरूप का ज्ञान होकर मोक्ष हो जाता है और रजोगुण तथा तमोगुण की वृद्धिसे बुद्धि में काम तथा मोह की वृद्धि होती है, जिससे पुरुष बन्धन में पड़ता है। जब प्रकृति और पुरुष का संयोग होता है, तो प्रकृति की साम्यावस्था का भंग होकर तीनों गुण न्यूनाधिक होने लगते हैं (तीनों गुण के बराबर अवस्था को साम्यावस्था कहते हैं)। जिस प्रकार कोई भी कार्य करने के पहिले निश्चयात्मिका बुद्धि ही उत्पन्न हुआ करती है कि अमुक कार्य अवश्य करूंगा, वैसे ही उस मूल प्रकृति से पहिले समष्टि बुद्धि उत्पन्न होती है, जिसको महतत्त्व भी कहते हैं, फिर उस बुद्धि से अहङ्कार उत्पन्न होता है, अहङ्कार के तमोगुण अंश से पांच तन्मात्राएं [शब्द,

स्पर्श, रूप, रस और गन्ध] उत्पन्न होते हैं, पुनः उन तन्मात्राओं से क्रमशः नभ, वायु, अग्नि, जल तथा पृथ्वी ये पांच महाभूत उत्पन्न होते हैं, फिर उसी अहङ्कार के सतोगुण भाग से पांच कर्मेन्द्रियां, पांच ज्ञानेन्द्रियां और एक मन, ये ग्यारह तत्त्व उत्पन्न होते हैं । रजोगुण के बल से तो ये सब उत्पन्न हो होते हैं, अतएव रजोगुण का कथन पृथक नहीं किया गया । बस, पुरुष के भोग के लिए पूर्वोक्त इन्हीं चौबीस तत्त्वों का क्षेत्र बनता है और पुरुष पच्चीसवां है, जैसे सांख्य अ० १ सूत्र ६१ में कहा है:—**सत्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृति महान् महतोऽहंकारोऽहंकारान् पंच तन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं पंचतन्मात्रेभ्यः स्थूल भूतानि पुरुष इति पंचविंशतिर्गणाः ।**

जिससे कोई पदार्थ पैदा हो उस कारण को प्रकृति और पैदा हुए कार्य को विकृति कहते हैं, इस हिसाब से महान् (बुद्धि) से लेकर पंच तन्मात्राओं तक, ये सात प्रकृति और विकृति दोनों हैं, मन सहित दश इन्द्रियां और पंच महाभूत ये सोरह केवल विकृति के श्रेणी में आ जाते हैं, मूल प्रकृति केवल प्रकृति है और पुरुष न प्रकृति है, न विकृति, जैसे सांख्य तत्व कौमुदी में कहा है:—

मूल प्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।
षोडशकस्तुविकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ॥

अब क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का वर्णन करते हैं—

दोहा—प्रकृति क्षेत्र अरु देह ये,
चौवीसों मिली नाम ।
चेतन पुरुष पचीसवां,
है क्षेत्रज्ञ ललाम ॥ ६५ ॥

दोहार्थ—पूर्वोक्त ये चौवीसों तत्त्व मिलकर प्रकृति क्षेत्र अथवा शरीर नाम होता है और पचीसवां चेतन पुरुष है उसको ललाम अर्थात् सुन्दर क्षेत्रज्ञ कहते हैं ॥ ६५ ॥ श्री कृष्ण चन्द्र जी ने भी श्री मद्भगवद्गीता में कहा है—

इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यधीयते ।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञं इति तद्विदः ।

'हे कुन्तिपुत्र अर्जुन ! यह शरीर 'क्षेत्र' ऐसा कहा जाता है और जो इसको जानता है, उसको क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ के जानने वाले 'क्षेत्रज्ञ' ऐसा कहते हैं । परन्तुः—

दोहा—पुरुषोत्तम परमातमा,
है छबीसवां शान्त ।
जड़-चेतन से जो परे,
कहत शास्त्र वेदान्त ॥ ६६ ॥

दोहार्थ—वेदान्त शास्त्र का सिद्धान्त है कि छबीसवां तत्व उस पुरुष [क्षेत्रज्ञ] से उत्तम परमेश्वर है, जो शान्त [विकार तथा उपाधि रहित] और जड़ [प्रकृति] तथा चेतन [पुरुष] से परे [श्रेष्ठ] है। ॥ ६५ ॥

भावार्थ—वेदान्त प्रकृति और पुरुष को स्वतन्त्र न मान कर एक ही परमेश्वर की कनिष्ठ तथा श्रेष्ठ विभूतियां बतलाता है। यहां पर यह शंका होती है कि जब सांख्यों के पुरुषों से भिन्न परमात्मा है, तब वेदान्तियों का अद्वैत सिद्धान्त कैसे सिद्ध होगा उस पर कहते हैं कि:—

दोहा—पुरुषोत्तम—परमात्म से,
पुरुष अहै जो आतम।
नहीं भिन्न तिहुं काल महं,
देखहिं भिन्न दुरातम ॥ ६७ ॥

दोहार्थ—पुरुष जो आत्मा है, वह पुरुषोत्तम परमात्मा से [भूत, भविष्य, वर्तमान] तीनों काल में भिन्न नहीं है, परन्तु मलीन अन्तःकरण वाले पृथक देखते हैं अर्थात् समझते हैं ॥ ६७ ॥ श्रुति भी कहती है:- "अयमात्मा ब्रह्म"। 'यह आत्मा ही ब्रह्म है, कारण यह है कि एक ही चेतन अविद्या सहित अन्तःकरण का अधिष्ठान तथा साक्षी होने से पुरुष, क्षेत्रज्ञ अथवा आत्मा कहलाता है और वही 'माया का

अधिष्ठान तथा साक्षी होने से पुरुषोत्तम या परमात्मा कहलाता है, इसलिए अद्वैत की हानि नहीं पायी जाती है।

शंका:—तुम्हारे वेदान्त मत में पुरुष भले ही परमात्मा का रूप ही हो, परन्तु प्रकृति तथा प्रकृतिजनित सृष्टि तो परमात्मा नहीं है? फिर द्वैत तो बना ही रहा।

समाधान:—

दोहा—उपजे हैं पर ब्रह्म से,
पांचो भूत अनूप।
पंचभूत मय सृष्टि यह,
परमेश्वर का रूप॥ ६८॥

दोहार्थ—यह पांच तत्वों से बनी हुई पञ्च भूतमय सृष्टि परमेश्वर का रूप ही है, क्योंकि जो पांचों तत्व अनूप [चित्र-विचित्र] हैं, वे परमेश्वर से ही उत्पन्न हुए हैं, अर्थात् जैसे स्वप्न द्रष्टा पुरुष में जो सृष्टि-क्रम प्रतीत होता है, वह पुरुष से भिन्न नहीं होता है; बल्कि उस समय वह पुरुष ही अनेक रूप से हो जाता है; वैसे ही परमेश्वर में जो सृष्टि-क्रम माया से प्रतीत हो रहा है, वह परमेश्वर से भिन्न नहीं है; किन्तु परमेश्वर स्वरूप ही है॥ ६८॥ तैत्तरीय श्रुति में सृष्टि-क्रम का वर्णन इस प्रकार है:—तस्मात्मनः आकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निरग्नेरापोऽद्भ्यः पृथ्वी॥

अर्थात् उस ब्रह्मात्मा से आकाश हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी हुई। भाव यह कि "अघटित घटना पटीयसी माया" अर्थात् जो नहीं घटने योग्य घटना को घटा दे, उसे माया कहते हैं। ऐसी विचित्र स्वभाव वाली जो माया है, वह देश, काल, वस्तु रूप परिच्छेद से रहित उस एक अद्वितीय ब्रह्म में सृष्टि क्रम दिखलाती है। माया से बने हुए पदार्थ वास्तव में नहीं रहते हैं, वे केवल भ्रान्ति से प्रतीत होते हैं और ज्ञान काल में तो उनकी प्रतीति का भी अभाव हो जाता है। माया-[प्रकृति] जनित सृष्टि का वास्तव में अत्यन्त अभाव है; अतः अद्वैत की हानि नहीं हो सकती। कहीं मिथ्या मृगतृष्णा के जल से पृथ्वी गीली हो सकती है? कदापि नहीं। उसी प्रकार मिथ्या सृष्टि भी अद्वैत की कुछ हानि नहीं कर सकती। जैसे कल्पित सर्प अपनी अधिष्ठान रस्सी से भिन्न नहीं होता, वैसे ही कल्पित सृष्टि अपने अधिष्ठान आत्मा से भिन्न नहीं हो सकती।

दोहा—जिमि सुवर्ण के ज्ञान से,
भूषण सबै लखाहिं।
एक लोष्ठ के ज्ञान से,
मृण्मय पात्र दिखाहिं॥ ६८॥

तैसे लोष्ठ सुवर्ण सम,
आतम के पहिचान ।
जग का भूषण पात्र-सम,
होत बेगही ज्ञान ॥ ७० ॥

दोहार्थ—जैसे [एक] सुवर्ण के ही ज्ञान हो जाने से [कुण्डल, कंकणादि] सम्पूर्ण भूषणों का पहचान हो जाता है (कि ये सब भूषण एक स्वर्ण ही हैं) और एक मिट्टी को जान लेने से सम्पूर्ण (मिट्टी के) वर्तन मिट्टीमय ही दीखने लगते हैं अर्थात् ऐसा जान पड़ता है कि सब वर्तन मिट्टी ही है ॥ ६९ ॥ वैसे ही मिट्टी और स्वर्ण के समान आत्मा को पहचान लेने पर (मिट्टी के) वर्तन और भूषण के समान सम्पूर्ण संसार का ज्ञान शीघ्र ही हो जाता है ॥ ७० ॥

भावार्थ—जैसे मिट्टी के जान लेने पर कुम्हार के सम्पूर्ण वर्तन मिट्टी ही देख पड़ते हैं और एक सोना के जान लेने पर कुण्डल, कंकणादि सब गहने सोना ही जान पड़ते हैं, वैसे ही केवल एक आत्मा के ही ज्ञान से सम्पूर्ण जगत आत्ममय जान पड़ता है।

दोहा—घट मठादि में भासना,
महाकाश जिमि भिन्न ।

गुण शरीर के भेद तिमि,
ब्रह्म दिखे परिछिन्न ॥ ७१ ॥

दोहार्थ—जैसे घड़ा, मकान इत्यादि में एक ही महाकाश भिन्न-भिन्न (पृथक-पृथक) दिखलायी देता है, वैसे ही गुण और शरीर के भेद से ब्रह्मपरिच्छिन्न [खंडित अथवा पृथक-पृथक] दिखलायी देता है, अर्थात् रजोगुण में रजोगुण सा, तमोगुण में तमोगुण सा और सतोगुण में सतोगुण सा व्यवहार करता हुआ तथा छोटे शरीर में छोटा और बड़े शरीर में बड़ा दिखलायी देता है ॥ ७१ ॥

दोहा—जलयुत बहु घट बीच में,
बहुत दिखे रवि एक ।
अन्तःकरण अनेक तिमि,
वपु मंह आतम अनेक ॥ ७२ ॥

दोहार्थ—(जैसे) जल के सहित अनेक घड़ों में एक ही सूर्य बहुत सा दिखलायी देता है, वैसे ही अन्तःकरण के भिन्न भिन्न होने से शरीर में आत्मा अनेक दिखालायी देता है ॥७२॥

दोहा—जल के डोले डोलता,
दीखे जल के रंग ।
सूर्य बिम्ब सम आतमा,
भिन्न-भिन्न वपु संग ॥ ७३ ॥

दोहार्थ—[जैसे] सूर्य का प्रतिबिम्ब जल के डोलने से हिलता हुआ और जल के रंग से रंग वाला दिखलायी देता है, परन्तु सूर्य-बिम्ब वास्तव में न हिलता है और न जल के रंग का ही हो जाता है, वैसे ही आत्मा शरीर के संयोग से भिन्न-भिन्न भापता है अर्थात् मोटा, दुबला; श्वेत, श्याम, रक्त, वृक्ष, पशु, मनुष्य इत्यादि जड़-चेतनमय दिखलायी देता है।

दोहा—जैसे जल के नाशते,
विम्ब भानु में लीन।
तिमि अज्ञान विनाश ते,
विभु में आत्म मलीन ॥ ७४ ॥

दोहार्थ—जैसे जल के नाश हो जाने पर सूर्यविम्ब सूर्य में ही लीन हो जाता है, वैसे ही अज्ञान के नष्ट हो जाने पर आत्मा विभु [परमात्मा] में लय हो जाता है ॥ ७४ ॥

दोहा—स्थाणु सीप तप रज्जुका,
जब लगि रहे न ज्ञान।
पुरुष, रजत जल, सर्प की,
तब लागि भान समान ॥ ७५ ॥
सुख दुःखमय जग भास तिमि,
जब लगि रहत मतक्ष ।

ब्रह्म स्वरूपी आतमा,
जब लगि नहीं समक्ष ॥ ७६ ॥

दोहार्थ—जब तक स्थाणु [ठूंठा वृक्ष], सीपी, तप [सूर्य की किरण] और रस्सी का ज्ञान नहीं होता, तब तक क्रमशः पुरुष, चांदी, जल और सर्प की प्रतीत निरन्तर बनी रहती है ॥ ७५ ॥

भावार्थ—जब तक ठूंठे वृक्ष का ज्ञान नहीं होता है तब तक वह मनुष्य की तरह दिखलायी पड़ता है और नीलपृष्ठ वाली सीपी जब धूप में चमकती है, तो चांदी सी तब तक ही जान पड़ती है, जब तक कि उसका ज्ञान नहीं हो जाता और सूर्य की किरणों में जल तभी तक जान पड़ता है जब तक कि उन किरणों का ज्ञान नहीं रहता; तथा अंधेरी रात में पड़ी हुई रस्सी तभी तक सर्पवत् भय देती है, जब तक कि रस्सी का ज्ञान नहीं हो जाता है ॥ ७५ ॥ वैसे ही तभी तक सांसारिक सुख-दुःख प्रत्यक्ष प्रतीत होते हैं जब तक ब्रह्म-स्वरूपी आत्मा सम्मुख नहीं होता अर्थात् जब तब उसका अपरोक्ष ज्ञान नहीं होता ॥ ७६ ॥

जगद्गुरु श्री मत् स्वामी शंकराचार्य जी ने भी "अपरोक्षानुभूति" में यों कहा है:—

रज्जु रूपे परिज्ञाते सर्प भ्रान्तिर्न तिष्ठति ।
अधिष्ठाने तथा ज्ञाते प्रपञ्चःशून्यतां व्रजेत ॥

'जैसे रस्सी के स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर सर्प की भ्रान्ति नहीं रह जाती, वैसे ही अधिष्ठान ब्रह्म को जान लेने पर प्रपञ्च शून्य हो जाता है अर्थात् उसका अभाव हो जाता है।' अन्तःकरण और अन्तःकरण का भोग सुख-दुखादि-प्रपञ्च ही तो है? फिर ज्ञान होने पर इसकी स्थिति कैसे रह सकती है?

बन्धन का स्वरूपः—

दोहा—आत्म प्रतीति अनात्म में,
हृदयाज्ञान सबन्ध।
द्रष्टा का जो दृश्य से,
है सबन्ध सो बन्ध ॥ ७७ ॥

दोहार्थ—अनात्म जो देहादि हैं उनमें आत्मा की भावना या हृदय की अज्ञानता अथवा द्रष्टा [आत्मा] का जो संसार से सम्बन्ध है, वही बन्धन है॥ ७७ ॥

भावार्थ—मनुष्य जो अज्ञानवश शरीर को आत्मा मान कर कहता है कि 'मैं मोटा हूँ, दुवला हूं, गौर वर्ण का हूँ अथवा श्याम वर्ण का हूं, इत्यादि, और सांसारिक वस्तुओं में अभिमान वस मेरा तेरा का प्रयोग करता है वही बन्धन कहलाता है।

मोक्ष का स्वरूपः—

दोहा—सहित अविद्या हेतु दुःख,
कार्य प्रपञ्च नसात।

प्राप्ती परमानन्द की,
मोक्ष रूप कहलात ॥ ७८ ॥

दोहार्थ—कारण अविद्या (अज्ञान) के सहित कार्य प्रपञ्च रूप दुःख की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति होनी ही मोक्ष का स्वरूप कहलाता है ॥ ७८ ॥

ज्ञान की महिमा:—

दोहा—सर्व भूत कहँ आपमहँ,
देखत सब महँ आप।
शोक-मोह ताको कहाँ,
दूर रहत त्रै ताप ॥ ७९ ॥

दोहार्थ—जो सम्पूर्ण प्राणियों को अपने में और अपने को सम्पूर्ण प्राणियों में देखता है, उसको शोक और मोह कहाँ है? (उससे तो) तीनों ताप दूर रहते हैं ॥ ७९ ॥

श्रुति में भी कहा है—

यस्मिन्सर्वाणिभूतान्यात्मन्येवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः ॥

ज्ञानी का अनुभव:—

दोहा—तीनि अवस्था तीनि गुण,
तीनिकाल तिहुं लोक।

ये माया कृत मैं नहीं,
चिदानन्द सद्‌शोक ॥ ८० ॥
मम प्रकाश चौदह करण,
करते निज-निज काज ।
मैं साक्षी द्रष्टा अलग,
सर्वेश्वर शिरताज ॥ ८१ ॥
पञ्चकोश से भिन्न हूं,
वर्णाश्रम मम नाहिं ।
तो किमि वर्णाश्रम धरम,
आवहिंगे मम पाहिं ॥ ८२ ॥
नहीं यक्ष पशु, असुर सुर,
जड़ चेतन नहिं दोउ ।
गुरु शिष प्राणी नाहिं मैं,
चारि खानि महं कोउ ॥ ८३ ॥
निद्रालस्य प्रमाद चित,
कारज से उपराम ।
तम के मोहाज्ञान ये,
मैं पूरण बिनु काम ॥ ८४ ॥

कार्यशक्ति प्रवृत्ति अरु,
तृष्णा का संचार
राग वृद्धि रज धर्म ये,
मैं चिद्माया पार ॥ ८५ ॥
सुख विवेक आनन्द चित,
तन प्रकाश सब द्वार ।
मेरे नहिं ये सत्व के,
मैं निर्गुण गोपार ॥ ८६ ॥
गौर श्याम अरु थूल कृत,
आदि देह के धर्म,
भूख प्यास ये प्राण के,
पृथक रूप मम शर्म ॥ ८७ ॥

दोहार्थ—जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति, ये तीनों अवस्थायें रज, तम, और सत्व, ये तीनों गुण; भूत, भविष्य और वर्तमान, ये तीनों काल और आकाश, पाताल और मृत्युलोक ये तीनों लोक; माया के किए हुए हैं । मैं इनसे पृथक तथा शोक रहित सच्चिदानन्द स्वरूप हूं ॥ ८० ॥ ॥ चौदह कारण

अर्थात् पांच कर्मेन्द्रियां पांच ज्ञानेन्द्रियां और चार अन्तः-करण, ये मेरे ही प्रकाश से अपना-अपना काम करते हैं। मैं तो इनका देखने वाला साक्षी तथा इनसे अलग और सबका स्वामी एवं शिरताज (सर्वश्रेष्ठ) हूं ॥८१॥ (अन्नमय, प्राणमय विज्ञानमय और मनोमय तथा आनन्द मय), इन पांच कोशों से भी भिन्न हूं; और जबकि वर्णाश्रम भी मेरे नहीं हैं, तो उनके धर्म हमारे पास क्यों कर आवेंगे ॥ ८२ ॥ मैं देवता, राक्षस, यक्ष और पशु नहीं हूं तथा जड़-चेतन दोनों भी नहीं हूं। 'न तो मैं गुरु और शिष्य हूँ, न प्राणधारी न चारिखानि [अण्डज, पिण्डज, उष्मज और स्थावर] ही हूँ ॥ ८३ ॥ निद्रा, आलस्य, कार्य से उपरामता, चित्त में प्रमाद तथा मोह और अज्ञान, ये तमोगुण के (धर्म) हैं (मेरे नहीं) मैं तो कामना से रहित तथा पूर्ण (निरवाच्छिन्न) हूं। राग (प्रेम] की बुद्धि, कर्म [फल) में आसक्ति; तथा प्रवृत्ति और तृष्णा का संचार, ये सब रजोगुण के धर्म हैं (मेरे नहीं), मैं चैतन्य [प्रकाश स्वरूप अथवा ज्ञान स्वरूप] तो माया से परे हूं ॥ ८५ ॥ सुख, ज्ञान चित्त में आनन्द और शरीर के सब द्वारों में प्रकाश, ये सतोगुण के (धर्म) हैं, मेरे नहीं। मैं तो गुण-रहित तथा इन्द्रियों से परे हूं ॥ ८६ ॥ श्यामता, गौर, मोटापन, पतलापन इत्यादि, ये शरीर के धर्म हैं, भूख-प्यास, ये प्राण के (धर्म) हैं, मेरा रूप (इनसे) अलग शर्म (आनन्द अथवा शान्ति) स्वरूप है ॥ ८७ ॥

दोहा—पालन करता विष्णु हौं,
विधि होकर यह सृष्टि ।
धारण में धरणी भया,
मेघ रूप ह्वै वृष्टि ॥ ८८ ॥
अमृतमय निज रश्मि से,
होकर शशि नभ माहि ।
औषधि सब पोषण करूं,
मुझ से सभी नशाहिं ॥ ८९ ॥
काल रूप में कल्प हूं;
लव निमेष युग वर्ष ।
जल में रस अरु भूमि में,
गन्ध वायु में पर्श ॥ ९० ॥
उष्ण तेज में शब्द नभ,
वेदन में ॐ कार ।
प्राणिन में मुझ प्राण से,
होत सकल व्यवहार ॥ ९१ ॥

विद्युत रवि शशि तारका,
अग्नि आदि ये सर्व।
परकाशत मम रूप से,
उत्तम मध्यम सर्व॥ ९२॥

दोहार्थ—(मैं) धारण करने वालों में पृथ्वी हुआ हूँ तथा मेघ हो कर वर्षा करता हूं; [मैं] ब्रह्मा होकर यह सृष्टि रचता हूं तथा विष्णु होकर [इस जगत का] पालन करता हूं; और मुझ [रुद्र रूप] से सबका नाश भी होता है ॥ ८८ ॥ [मैं] आकाश में चन्द्रमा होकर अपनी किरणामृत से सम्पूर्ण औषधियों का पोषण करता हूं ॥ ८९ ॥ लव, निमेष, वर्ष, युग और कल्प इत्यादि काल [समय] रूप से मैं ही हूँ; और जल में रस, पृथ्वी में गन्ध तथा वायु में स्पर्श भी मैं ही हूँ ॥ ९० ॥ आकाश में शब्द, अग्नि में उष्णता, और वेदों में ॐ कार हूँ। प्राणियों में मुझ प्राण से ही सम्पूर्ण व्यवहार होते हैं अर्थात् प्राणियों में मैं प्राण रूप से स्थित हूँ ॥ ९१ ॥ सूर्य, चन्द्रमा, विजली, तारे, अग्नि, इत्यादि छोटे, बड़े और मध्यम श्रेणी वाले सब ही मेरे ही तेज से प्रकाश करते हैं ॥ ९२ ॥

पूर्वोक्त दोहों का भाव यह है कि जिस प्रकार एक ही सोने के अनेक आभूषण होते हैं, इसलिए भूषण सोने से पृथक नहीं हो सकते, तथापि कुण्डल, कंकणादि नाम तथा गोलादि

आकार [रूप] कुण्डलादि भूषणों के ही हैं; न कि सोने के वैसे ही अस्वथा, गुण, जाति, इत्यादि ब्रह्म के ही विवर्त होने से उसके ही स्वरूप हैं तथापि ये अवस्था आदि धर्म ब्रह्म [आत्मा] के नहीं हैं और जैसे सोने को छोड़ कर भूषण स्वतन्त्र नहीं रह सकते, वैसे ही आत्मा रूपी अधिष्ठान के विना अग्नि, आदि स्वतन्त्र नहीं रह सकते हैं, अतः कहा गया कि अग्नि, आदि मेरे प्रकाश से प्रकाशित हैं।

शंका—वेदान्ती ब्रह्म को अखण्ड कहा करते हैं, सो अखण्ड का क्या लक्षण है?

समाधान—स्वगत स्वजातीय विजातीय भेद शून्य अखण्डत्वम्। 'स्वगत, स्वजातीय तथा विजातीय भेद से रहित होना ही ब्रह्म की अखण्डता है' 'स्वगत भेद से रहित हो' जो इतना ही अखण्ड का लक्षण कहते, तो नैयायिकों के परमाणुओं में तथा सांख्यों के पुरुषों में अतिव्याप्ति होती, क्यों कि ये निरवय होने के कारण स्वगत भेद से रहित हैं। अतएव 'स्वजातीय भेद से रहित' ऐसा भी कहा, यद्यपि परमाणु और पुरुष स्वगत भेद से रहित हैं, तथापि स्वजातीय भेद से रहित नहीं हैं, क्यों कि परमाणु और पुरुष बहुत हैं। 'स्वजातीय भेद से रहित हो' जो इतना ही कहते, तो इस लक्षण को आकाश में अतिव्याप्ति होती, क्यों कि आकाश की जाति वाला दूसरा आकाश नहीं है।

अतः 'जो ।वजातीय भ· [illegible] हा, आकाश
स्वजातीय भेद से रहित [illegible] भेद से रहित
नहीं है क्यों कि आकाश [illegible] दि बहुत हैं,
अतः आकाश में अति [illegible] निरवय है,
अतः स्वगत भेद से रहित है, और एक हो [illegible] स्वजातीय
भेद से रहित है तथा जगत के कल्पित हो· [illegible] विजातीय
भेद से रहित है।

वादी की शंका और उसका समाधानः—

शंका--सूक्ष्म अहंकार से लेकर स्थूल जगत पर्यन्त कल्पित (अध्यास) होने से उन्हें आप (वेदान्ती) मिथ्या मानते हैं, सो ठीक नहीं है; क्योंकि अध्यास विना सामग्री के नहीं होता है। और अध्यास की सामग्री यह है:--एक तो सत्य वस्तु के ज्ञान जन्य संस्कार और दूसरा स्वजातीय वस्तु का ज्ञान। जैसे किसी को रस्सी में सर्प का अध्यास होता है, तो वह कहीं पर सच्चा सर्प देखा रहता है और उस सर्प का उसके हृदय में संस्कार रहता है तथा रस्सी का सर्प स्वजातीय भी है; क्योंकि रस्सी और सर्प ये दोनों व्यवहारिक हैं। अध्यास का तीसरा कारण प्रमाता [जीव], प्रमाण [इन्द्रियां] और प्रमेय [वस्तु] का दोष है। जैसे—जहां रस्सी में सर्प तथा सीपी में चांदी का अध्यास होता है, वहां जीव को भय एवं लोभ रूपी दोष होते हैं, और नेत्र

रूपी प्रमाण में तिमिरादि दोष तथा वस्तु में सदृश्यता रूपी दोष रहता है [क्योंकि रस्सी सर्प के सदृश लम्बी तथा सीपी चांदी की तरह चमकीली होती है]। चौथा कारण, वस्तु के सामान्यरूप का ज्ञान तथा विशेष रूप का अज्ञान है। जैसे जब रस्सी में सर्प का तथा शुक्ति में चांदी का अध्यास होता है, तो रस्सी के इदं [यह] रूप का ज्ञान [illegible] अंधकार में पड़ी हुई रस्सी पहले सामान्य रूप से प्रतीत होती है कि 'यह लम्बा कोई चीज है' और धूप में पड़ी हुई-शुक्ति भी चमक से चकचौंधी में आये हुए नेत्रों के द्वारा सामान्य रूप से यही प्रतीत होता है "कि कोई चमकीली वस्तु है," परन्तु रस्सी का विशेष रूप मूंज के अवयव तथा शुक्ति का विशेष रूप नीलवर्ण त्रिकोण आदि के न प्रतीत होने से उनमें सर्प तथा चांदी का अध्यास हो जाता है; अतः अध्यास में वस्तु के सामान्य रूप का ज्ञान तथा विशेष रूप का अज्ञान भी कारण है। आप वेदान्तियों के ही सिद्धान्त से अध्यास की एक भी सामग्री नहीं है, अतः जगतरूपी बंध मिथ्या नहीं, किन्तु सत्य है और इसकी निवृत्ति भी नहीं हो सकती, अतएव पुरुषार्थ भी निष्फल है।

प्रश्न—हमारे सिद्धान्त में अध्यास की सामग्री एक भी कैसे नहीं है ?

उत्तर—आप के सिद्धान्त में कोई भी सत्य पदार्थ नहीं है, जिसके ज्ञान जन्य संस्कार से बंध हो, तथा वस्तु जो

ब्रह्मात्मा है, वह चेतन, व्यापक, सत्य तथा एक है और जगत जड़, परिच्छिन्न, मिथ्या तथा नाना है, इसलिए आत्मा रूपी वस्तु और जगत रूपी बंध की स्वजातीयता तथा सदृश्यता नहीं हो सकती, जिससे कि बंध का अध्यास हो और प्रमाता तथा प्रमाण तो बंध होने पर पीछे हुए हैं; क्योंकि अन्तःकरण प्रतिबिम्बित प्रमाता और प्रमाण नेत्रादि इन्द्रियां ये सब अध्यास से ही हैं; इसलिए ये बंध रूपी कार्य के हेतु नहीं हो सकते, क्योंकि कारण कार्य से प्रथम ही होता है, ऐसा नियम सर्वत्र देखा गया है। चौथा हेतु जो वस्तु के सामान्य रूप का ज्ञान तथा विशेष रूप का अज्ञान है, वह भी नहीं हो सकता, क्योंकि आप लोग निर्विशेष ब्रह्म में सामान्य तथा विशेष भाव मानते ही नहीं।

समाधान—कोई यह नियम नहीं है कि सत्य वस्तु के ज्ञान जन्य संस्कार से ही अध्यास होता है, बल्कि अध्यास में संस्कार हेतु है, वह संस्कार चाहे सत्य वस्तु के ज्ञान-जन्य हो, अथवा मिथ्या वस्तु के ज्ञान जन्य हो; जैसे–किसी पुरुष ने छुहारे को न तो देखा था और न उसका नाम ही सुना था, एक दिन उसको किसी मदारी ने माया का मिथ्या छुहारे का वृक्ष बना कर दिखला दिया। और नाम भी बतला दिया कि "यह छुहारा है", फिर कुछ काल के बाद उस मनुष्य ने कहीं पर खजूर का वृक्ष देखा, तो उसको उस खजूर के वृक्ष में अध्यास हो गया कि यह

छुहारा है। लोक में भी यह देखा गया है कि छोटे-छोटे बच्चों को 'हऊवा' 'कोका' कह कर डराया जाता है उससे लड़कों को अभ्यास हो जाता है कि कोई भयानक जन्तु आ रहा है और भयभीत हो जाते हैं, यद्यपि 'हऊवा' और 'कोका' कोई सत्य पदार्थ नहीं रहते, परन्तु उनके हृदय में संस्कार पड़ जाता है और भय देने लगता है। उसी प्रकार माया का रचा हुआ जो मिथ्या जगत है, उसका ज्ञान जनित संस्कार प्राणियों के हृदय में अनेक कल्पों से पड़ता आता है और पूर्व-पूर्व कल्पों के संस्कार उत्तर-उत्तर कल्पों के जगत-अध्यास के हेतु होते जाते हैं।

प्रश्न-कभी तो पहले पहले इस जगत को माया बनायी होगी?

उत्तर-नहीं, यह जगत अनादि है अर्थात् पहला जगत कोई नहीं है, किन्तु पूर्व कल्प के प्राणियों के कर्मानुसार सृष्टि के बाद लय, फिर लय के बाद सृष्टि, इस प्रकार जगत प्रवाह रूप से अनादि है।

प्रश्न—माया की उत्पत्ति कैसे हुई?

उत्तर—माया भी उत्पत्ति रहित अनादि है। यदि माया की उत्पत्ति मानी जाय तो किससे मानी जाय? जगत से तो मान नहीं सकते; क्योंकि जगत माया का कार्य है। अब रह गया ब्रह्म, यदि ब्रह्म से माया की उत्पत्ति मानें, तो ब्रह्म विकारवान् हो जायगा और श्रुति उसको निर्विकार कहती है

तथा ब्रह्म से माया की उत्पत्ति मानने में मोक्ष अवस्था में भी माया की उत्पत्ति हो जायगी और उससे माया तथा माया जनित प्रपञ्च से रहित होना रूप मोक्ष की सिद्धि नहीं होगी तथा माया का कारण होने से ब्रह्म विकारवान् हो जायगा, तब ब्रह्म का भी कारण मानना पड़ेगा, क्योंकि जगत में जितने विकारवान् पदार्थ हैं, उनके कारण अवश्य देखे जाते हैं। फिर ब्रह्म से परे कोई तत्त्व भी नहीं है, जिसको ब्रह्म का कारण माना जाय-जैसे श्रुति ने कहा है:-**पुरुषान्न परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः।** 'पुरुष (ब्रह्म) से परे कुछ भी नहीं है, वही पराकाष्ठा है तथा वही परम गति है'। इस रीति से माया उत्पत्ति रहित होने से भी अनादि कल्पित है। वेदान्त सम्प्रदाय में छः पदार्थ अनादि माने गए हैं, जैसे:—**जीवईशविशुद्धा चिद्विभागश्च तयोर्द्वयोः। अविद्या तच्चितोर्योगो षड़स्माकमनादयः॥** 'शुद्ध ब्रह्म, ईश्वर, जीव, जीव और ईश्वर का भेद, अविद्या, तथा अविद्या और चेतन (ब्रह्म, ईश्वर, जीव) का सम्बन्ध, ये छः पदार्थ अनादि हैं।' यह भी नियम नहीं है कि वस्तु के स्वजातीय ज्ञानजन्यसंस्कार तथा सदृश्यता रूपी दोष से ही अध्यास होता है; क्योंकि 'मैं ब्राह्मण हूँ, मैं क्षत्रिय हूँ, मैं वैश्य हूँ' इत्यादि इस प्रकार के अध्यास का अनुभव तो सबको है, फिर विचार करके देखिए तो ब्राह्मणादि जाति से आत्मा

की न तो स्वजातीयपना है और न सदृश्यता ही है, क्योंकि आत्मा अन्तर, चेतन और सत्य है तथा जाति वाह्य, जड़ और मिथ्या है, तथा अध्यास में प्रमाता के दोष का भी नियम नहीं है, क्योंकि जो वैराग्यवान् तथा शरीर और संसार को मिथ्या जानने वाला ज्ञानी पुरुष है, उसको भी सीपी में चांदी का अध्यास हो कर लोभ तथा रस्सी में सर्प का अध्यास होकर भय हो जाता है, तथा एक ही आकाश में सम्पूर्ण प्राणियों को तम्बू, कढ़ाही, इत्यादि का अध्यास हो रहा है। आकाश का तम्बू आदि से न तो सदृश्यता है और न सबके हृदय में लोभ रूपी दोष तथा नेत्रों में तिमिरादि दोष ही हैं। ज्ञानी की दृष्टि से ब्रह्म में सामान्य तथा विशेष भाव नहीं है, इसलिए ज्ञानी को अध्यास भी नहीं है। परन्तु अज्ञानियों की दृष्टि में सामान्य तथा विशेष भाव से रहित ब्रह्म में सामान्य तथा विशेष भाव तो रहते ही हैं, अतएव अज्ञानी पुरुषों को बन्ध का अध्यास है। सामान्य रूप वह है जिसकी प्रतीति भ्रान्ति काल में भी रहे। जिसके अज्ञान से भ्रान्ति (अध्यास) हो तथा उसके ही ज्ञान से भ्रान्ति दूर हो जाय, वह विशेष रूप कहलाता है। ब्रह्म का सत्यस्व रूप तो सामान्य रूप है। क्योंकि उसकी प्रतीति 'मैं हूँ' 'मैं हूँ' इस प्रकार हर एक काल में बनी रहती है, और आनन्द, शुद्ध, मुक्त, व्यापक इत्यादि विशेष रूप है, यह विशेष रूप भ्रान्ति काल में प्रतीत नहीं होता और इसी के ज्ञान से अर्थात् मैं आनन्द, शुद्ध मुक्त

तथा व्यापक हूँ; इस प्रकार के बोध होने से बन्ध का अध्यास नष्ट हो जाता है। इस रीति से विशेष रूप को अधिष्ठान तथा सामान्य रूप को आधार कहते हैं। पूर्वोक्त प्रकार से यह सिद्ध हो गया कि अपने ब्रह्मात्मास्वरूप में बन्ध का अध्यास मिथ्या ही है और वह ब्रह्मज्ञान से दूर हो जाता है।

दोहा—सत संगति अरु शास्त्र का,
सार यथा मति कर्षि।
ज्ञानामृत वर्णन किया,
'राम जन्म ब्रह्मर्षि' ॥ ५३ ॥
मम विद्या नहिं भणित भी,
काव्य-कला से हीन।
विषय श्रेष्ठ चित जानि के,
यह आदरहिं प्रवीन ॥

दोहार्थ—(मैं) रामजन्म ब्रह्मर्षि [* वर्तमान रामाश्रम

* ज्ञानमृत का द्वितीय संस्करण आप लोगों की सेवा में प्रकाशित किया जारहा है। जिस समय पहले पहल यह पुस्तक प्रकाशित की गई थी, उस समय स्वामी जी ब्रह्मचर्याश्रम में थे वर्त्तमान समय में स्वामी जी ने सन्यास ले लिया है और

जी परमहंस] ने अपनी बुद्धि के अनुसार सन्तों के संग तथा सद्शास्त्रों के सार को खींच कर "ज्ञानामृत" नामक ग्रन्थ का वर्णन किया ॥ ९३ ॥ मेरे पास विद्या नहीं है और यह काव्य काव्य-कला (छन्द-प्रवन्धादि) से रहित है, (परन्तु) विषय के श्रेष्ठ (आध्यात्मिक) समझ कर चतुर पुरुष इसका आदर करेंगे ॥ ९४ ॥

आशीर्वादात्मक मंगलाचरण

दोहा—आतम देव जिन करि कृपा,
दीन्हों रूप लखाय ।
सोई श्री गुरुदेव पुनि,
दियो ग्रन्थ लिखवाय ॥ ९५ ॥
सोधन युत जो ग्रन्थ यह,
करें विचार सुजान ।
भासे उर अपरोक्ष है,
उनका आतम महान ॥ ९६ ॥

आपका नाम प्रथम नाम के पूर्वांश में आश्रम जोड़ कर "रामाश्रम जी परमहंस" पड़ गया है ।

श्री चरणों का एक सेवक—
विश्वनाथ शर्मा. ग्राम. सहदेरा (बलिया)

दोहार्थ—जिन आत्मदेव ने कृपा करके मुझे अपने रूप को लखाया है अर्थात् साक्षात्कार कराया है, वही श्री गुरु-देव ने फिर मुझसे यह ग्रन्थ लिखवाया है ॥ ९५ ॥ जो सुजान नाम मुमुक्षु जन साधन सम्पन्न हो कर इस ग्रन्थ को विचारेंगे; उनके हृदय में भी यह उनका महान् आत्मा अपरोक्ष होकर भासेगा अर्थात् प्रकाशित होगा ॥ ९६ ॥ महान् आत्मा इसलिए कहा कि कूटस्थ आत्मा से (महा-काश के सदृश) ब्रह्म का अभेद है, और जो यह कहा गया कि आत्मदेव ने कृपा करके अपने रूप को लखाया, इसमें श्रुति भी प्रमाण है यथा:—**नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन । यमेष वृणुते तेन लभ्यस्तनूं स्वाम् ॥** 'यह आत्मा न तो बहुत पढ़ने से प्राप्त होता है न बुद्धि से और न बहुत सुनने से ही प्राप्त होता है। जिस पर यह आत्मा प्रसन्न होता है, उसी अधिकारी के द्वारा अपने स्वरूप को प्राप्त कराता है।' भाव यह कि:—वेदान्त-शास्त्र के अध्ययन के द्वारा तथा निष्काम कर्म एवं उपासना के द्वारा जब बुद्धि प्रखर हो जाती है; और श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन के द्वारा जब अज्ञान रूपी आवरण दूर हो जाता है, तो उस अधिकारी के हृदय में आत्मदेव स्वयं प्रकाशते हैं। शास्त्र अध्ययन, शुद्ध बुद्धि, श्रवणादि, ये केवल आवरण भंग करने में हेतु होते हैं, आत्मा को प्राप्त करने में नहीं।

आत्मा तो स्वयं प्रकाश स्वरूप है, उसको कौन प्रकाश कर सकता है? जिसके हृदय में अज्ञान रूपी आवरण है उसके हृदय में प्रकाशित होता हुआ भी प्रतीत नहीं होगा; अतः साधन सम्पन्न शुद्धान्तःकरण वाले अधिकारी पुरुष के ऊपर ही अपने सच्चिदानन्द रूप का साक्षात्कार कराना रूपी उसकी कृपा होती है, उससे दुःखरूप अज्ञान तथा अज्ञान-जनित प्रपञ्च की अत्यन्त निवृत्ति तथा परमानन्द की प्राप्ति होती है॥ शुभमिति तृतीयाऽञ्जलिः—

इति श्री 'ज्ञानामृत' [भाषा वेदान्त] ब्रह्मार्पणमस्तु।

दोहा—शुभ संवत उन्नीस सौ,
नब्बे तीनि मिलन्त।
कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा,
कियो ग्रन्थ का अन्त॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः

शान्ति! शान्ति!! शान्ति!!!

श्री रामाश्रम ग्रन्थ—माला की पुस्तकें—

पहली ज्ञानामृत—यह आपके हाथ में है

दूसरी—भव-भञ्जन

तीसरी—आत्म—प्रकाश

चौथी—प्रेम, वैराग्यादि—वाटिका

मिलने का पताः—श्री मान् पं० गयाप्रसाद जी मिश्र,
मु० बुलापुर, पोष्ट-मभौवा, जिला, बलिया।

पांचवी—श्री रामगीता [सानुवाद]

छठीं—वेदान्त—कुञ्जी,

पताः—श्री मान् बाबू परमहंस राय (चौधरी)।
मु० शेरपुर बड़ा, पोस्ट, कुड़ेसर, जिला, गाजीपुर।

नोटः— विदित हो कि श्री रामाश्रम ग्रन्थ-माला की पुस्तकें सदाचार, भक्ति, ज्ञानादि के प्रचारार्थ प्रकाशित की गयी हैं, अतः जिज्ञासुवृन्द केवल डाकखर्च के लिये लिफाफा-द्वारा टिकट भेज कर मंगा सकते हैं।